खिलती कली

खिलती कली

मेरा दिमाग घूम गया था। सब तरफ एक ही विज्ञापन नज़र आ रहा था। अखबारों में, सड़कों पर, दीवारों पर, रेलवे प्लेटफार्मों पर, गरज़ यह कि जहां-जहां भी थोड़ी-सी खुली जगह थी, उस प्रत्येक जगह पर एक ही विज्ञापन था—'खिलती कली'।

यह 'खिलती कली' आखिर है क्या चीज़? यह प्रश्न प्रत्येक पूछ रहा था। यह क्या कोई फिल्म है, या कहानी-संग्रह है, या नाटक है? जिसपर किसी लेखक का नाम नहीं, प्रकाशक का नाम नहीं, किसी कम्पनी का नाम नहीं, ऐसी इस खिलती कली को कौन माली, किस बाग से तोड़कर, किसे देनेवाला है? यह प्रश्न मेरे सम्मुख खड़ा हुआ।

अखबारों के विज्ञापनों पर मैं कतई विश्वास नहीं करता और उसमें भी जब इस तरह का कोई विज्ञापन मेरी नज़रों के सामने से गुज़रता है तो मुझे बड़ी घृणा आती है। पर ये विज्ञापन ही कुछ ऐसे होते हैं कि न चाह-कर भी हमारा ध्यान उनकी ओर चला जाता है।

इस विज्ञापन ने मुझे पागल कर दिया था। कोई कारण न होते हुए भी मुझे बार-बार उसकी याद हो आती—यह 'खिलती कली' आखिर है क्या?

मेरा जीवन ही कुल मिलाकर बड़ा अजीब-सा था। मेरे मां-बाप मेरे बचपन में ही मुझे अनाथ कर गए थे। मुझे छोटे से बड़ा किया मेरे काका

ने। वे डिप्टी कलेक्टर थे। मेरी चाचीजी बड़ी स्नेहशीला थीं। बड़ा ही प्यारा स्वभाव पाया था उन्होंने। पर मेरा दुर्भाग्य कि मुझे उनकी संगति का लाभ अधिक दिनों तक न मिल पाया। उनकी याद यद्यपि मेरे हृदय में जाग्रत् थी फिर भी वह दृश्य-स्मृति अब इतनी अस्पष्ट हो गई है कि आज उनका चेहरा मैं अपनी दृष्टि के सम्मुख नहीं ला पाता।

मेरे काका जिन-जिन शहरों में नौकरी के लिए रहे, मेरी शिक्षा बचपन में उन्हीं-उन्हीं शहरों में हुई। प्रायः मैट्रिक होते तक एक ज़िले से दूसरे ज़िले में जैसे-जैसे मेरे काका का तबादला होता रहता, वैसे-वैसे मुझे भी हाई स्कूल बदलने पड़ते।

जिस साल मैं मैट्रिक हुआ, उसी साल काका ने पेंशन ली और हम वेल-गांव आकर अपने घर में रहने लगे।

मेरी बड़ी इच्छा थी कि कालेज में भरती होकर आगे पढ़ूं; लेकिन मेरे सिवा काका के पास कसम खाने को भी कोई दूसरा आदमी नहीं था जो उनके पास रहता। इसलिए मुझे ही उनके साथ घर रहना पड़ा। काका भी चाहते थे कि मैं आगे पढ़ूं, बड़ी-बड़ी डिग्रियां हासिल करूं और बड़े ओहदे की सरकारी नौकरी कर, उन्हींके समान अपने खानदान का नाम रोशन करूं; पर अपनी यह इच्छा वे पूरी नहीं कर पाए।

उन्होंने काफी बड़ी जायदाद कमाकर रखी थी। उस जायदाद की देखभाल करने के लिए उन्हें भी एक आदमी की ज़रूरत थी ही। काका यह नहीं चाहते थे कि जायदाद की देखभाल करने के लिए कोई पराया आदमी तनख्वाह से मैनेजर नियत किया जाए और वह मनमाना काम करके सारी जायदाद ही बरबाद कर दे। यह मुझे भी पसन्द नहीं था। इसलिए जब काका ने मुझसे जायदाद की देखभाल करने को कहा, तो मैं बड़ी खुशी से राज़ी हो गया और उन्हींके घर रह गया, और इस तरह से मैं एक ज़मींदार बन गया।

पारिवारिकता क्या चीज़ होती है, इसका अपने जीवन में मुझे बिलकुल ही परिचय नहीं हुआ था। जब मैं छोटा था तभी मेरे माता-पिता स्वर्गवासी

हो गए थे। मैं काका के घर रहने लगा था। जिसने मुझपर अपना प्यार लुटाया था, वह स्नेहशीला चाची भी कुछ ही दिनों में मुझे छोड़कर ऐसे लोक को चली गई थीं जहां से फिर कोई कभी लौटकर नहीं आता। घर में रह गए थे सिर्फ काका, और वे थे डिप्टी कलेक्टर—स्वभाव के बड़े तेज़। एक रसोइया था और घर के अन्य कामों के लिए दो मर्द नौकर थे। इस तरह मर्दों के बीच ही मेरी सारी ज़िन्दगी गुज़री थी। अतः जिसे गृह-सुख कहा जाता है उससे मैं प्रायः वंचित ही था। हमारा घर एक प्रकार का आफिस-सा ही था। काका जब मुझे पुकारते तो मैं उनके पास जाता, वे जो काम करने को बताते उसे करता और उस काम का जैसा भी इन्तज़ाम होता उसकी खबर जाकर काका को दे देता। इस तरह का आफिसनुमा काम करने में मेरे दिन बीत रहे थे।

पढ़ने का मुझे शौक था, बेहद शौक था। जब हाई स्कूल में था तो वहां के पुस्तकालय से, या कभी-कभी वहां के शिक्षकों से और कभी-कभी तो विद्यार्थियों के पास से भी जो पुस्तकें मुझे मिलतीं, उन्हें पढ़ने में मैं अपना फुरसत का वक्त गुज़ार देता था। बेलगांव आने पर यह पढ़ाई प्रायः रुक-सी गई थी। वहां कोई अच्छा पुस्तकालय नहीं था। इसलिए पढ़ने के अपने शौक को पूरा करने के लिए मुझे पुस्तकें खरीदनी पड़ती थीं। पुस्तकें खरीदने के लिए पैसा देने को काका कभी इंकार नहीं करते थे; पर पुस्तकें खरीदने के लिए हर बार उनसे पैसा मांगने में मुझे ही संकोच होता था। मैं उनके घर आखिर एक भारस्वरूप ही रह रहा था। उनसे मेरा कोई बहुत ही घनिष्ठ पूर्व-सम्बन्ध नहीं था। मैं केवल उनके एक भाई का लड़का था जिसे उन्होंने एक विशेष परिस्थिति में पाल-पोसकर बड़ा किया था। इसलिए अपने शौक को पूरा करने के लिए मैं उनपर व्यर्थ ही अधिक बोझ क्यों ड़ालता? मैट्रिक तक उन्होंने मुझे पढ़ा दिया था और अब घर ही में क्यों न हो, एक तरह से रोज़ी-रोटी से भी लगा दिया था। ये उपकार काफी थे; और ऊपर से अब अपने शौक के लिए पुस्तकें खरीदने को भी उनसे बार-बार पैसे ऐंठते रहना मुझे उचित प्रतीत न होता था।

इसके बावजूद मैं पुस्तकें खरीदता था। किसी महीने में यदि पुस्तकें न खरीदीं तो स्वयं काका ही पूछते थे कि ऐसा क्यों हुआ ? बात यह थी कि पेंशन लेने के बाद मनोरंजन के लिए उन्हें भी किसी उद्योग की ज़रूरत थी ही। मैं जिन पुस्तकों को खरीदता था, उन्हें वे भी पढ़ते थे। हालांकि उनकी और मेरी रुचि में ज़मीन-आसमान का अन्तर था।

तत्त्वज्ञान मुझे पसंद न था, यह बात न थी; परन्तु जिसे ललित साहित्य कहते हैं उसे पढ़ने का मुझे बड़ा शौक था और काका की रुचि थी तत्त्वज्ञान और धार्मिक, विशेषत: हिन्दू धर्म-सम्बन्धी ग्रंथों को पढ़ने की। उनकी इस रुचि के कारण ही मुझे भी उन पुस्तकों को पढ़ना पड़ता था। उन्हें पढ़ते समय मैं ऊब जाता होऊं यह बात नहीं, लेकिन कथा-साहित्य पढ़ते समय मेरा मन कथावस्तु में जितना खो जाता था, उतनी तन्मयता तत्त्वज्ञान की या धर्मशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों को पढ़ते समय मुझे अनुभव नहीं होती थी।

काका की रुचि का यह साहित्य पढ़ने को मैं मजबूर था। फ़ुरसत के वक्त उन पुस्तकों के विषय पर वे मुझसे चर्चा भी करते थे। उस चर्चा के समय काका-भतीजे के रिश्ते की आत्मीयता बहुत कम रहती थी। कोई शिक्षक अपने किसी विद्यार्थी को जिस तरह कोई विषय समझा-समझाकर बताता है, उसी तरह अधिकार और बुज़ुर्गी के ज़ोर पर, वे तत्त्वज्ञान और धार्मिक विषयों का एक खासा बड़ा डोज़ मुझे रोज़ ज़बर्दस्ती पिलाया करते थे।

काका का खयाल था कि वर्तमान तरुणों की वृत्ति अपने प्राचीन वैभव से हटकर पाश्चात्य संस्कृति से चकाचौंध हो गई है और इसके कारण इन तरुणों के धर्म-बन्धन धीरे-धीरे शिथिल होते जा रहे हैं। इन वर्तमान तरुणों की तरह कहीं मैं भी न हो जाऊं इसीलिए यह चर्चा वे मुझसे रोज़ किया करते थे।

कथा-साहित्य के पीछे यद्यपि मैं पागल था, फिर भी इस ज़बर्दस्ती की शिक्षा के कारण तत्त्वज्ञान और धार्मिक विषयों पर लिखे ग्रंथों में भी मेरा

मन धीरे-धीरे दिलचस्पी लेने लगा था। ललित साहित्य भी तत्त्वज्ञान से वंचित नहीं होता। मनुष्य-स्वभाव के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए तत्त्वज्ञान के अध्ययन की कम से कम साहित्य में तो आवश्यकता होती है। इस मान्यता से भिन्न-भिन्न प्रांतों और भिन्न-भिन्न देशों के तत्त्वज्ञान-विषयक ग्रंथों का परिशीलन करने के कारण ललित साहित्य की ओर देखने की मेरी दृष्टि एक प्रकार से निश्चित हो चुकी थी।

काका पुराणकाल के बड़े कट्टर भक्त थे, बड़े अभिमानी थे। प्राचीन आर्य-संस्कृति कैसी थी, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का उसपर किस तरह प्रभाव पड़ा और उसके कारण उसकी आज क्या स्थिति हो गई है—इसपर चर्चा करने का, सप्रमाण चर्चा करने का, उन्हें एक तरह का चस्का ही लग गया था; और मुझ जैसा विरोध न करनेवाला श्रोता पा जाने के कारण उनका वह चस्का धीरे-धीरे एक प्रकार का व्यसन बनता जा रहा था। प्राचीन संस्कृति के खिलाफ थोड़ी भी आवाज़ उठानेवाला कोई व्यक्ति यदि उनके पास आ जाता, अथवा कोई उनके पास जाकर नई संस्कृति, नये मत, नई रीति और नये मतों का गुणगान करता, तो वे एकदम आपे से बाहर हो उठते और उसे खूब ही खरी-खोटी सुना देते। नये के प्रति द्वेष उनके हाड़-मांस में इतना समा गया था कि नये विचारों का समर्थन करने-वाले व्यक्ति पर, फिर वह कितना भी बड़ा क्यों न होता, कितना भी महा-पंडित क्यों न होता, वे एकदम टूट पड़ते। पुराने विचारों के प्रति ज्वलंत अभिमान के कारण वे इतने बेकाबू हो उठते कि ऐसे समय उन्हें शिष्टता के साधारण नियमों का भी कोई ध्यान नहीं रहता था।

रात-दिन उनके साथ रहने के कारण यह वृत्ति मुझमें भी घर करने लगी थी। यद्यपि मैं कथा-साहित्य का भक्त था, फिर भी मेरा यह मत बनने लगा था कि वर्तमान काल में निर्मित होनेवाला कथा-साहित्य हमारी पुरानी संस्कृति पर आघात करता है। उपन्यास पढ़ते समय भी यह देखने की ओर कि लेखक ने हमारी प्राचीन संस्कृति पर किन-किन स्थानों पर किस-किस प्रकार से आघात किया है, मेरा इतना अधिक ध्यान आकृष्ट हो

जाता कि उसके कारण उस उपन्यास के कथानक के सौंदर्य का भाग, जो अत्यन्त प्यारा रहता था, मेरी नजरों से बिलकुल ही छूट जाता। इस प्रकार मुझमें धीरे-धीरे दोष खोजने की दृष्टि आने लगी थी। जब भी कोई पुस्तक मेरे हाथ में आती तो सबसे पहले मैं उसके दोष खोजने में लग जाता और फिर उन दोषों के कारण ढूंढ़कर सूक्ष्म दृष्टि से यह देखता कि उस पुस्तक में पुरानी संस्कृति की किस रीति से धज्जियां उड़ाई गई हैं। कितनी भी साधारण कथावस्तु क्यों न होती, उसमें भी मुझे यह दोष बिना दिखे कभी न रहा।

जब मैंने अपने आसपास देखा तो मुझे लगने लगा कि वर्तमान समय में प्रकाशित होनेवाला ललित साहित्य वास्तविकता के बिलकुल निकट है। उसमें वही बातें लिखी हैं जो हमारे इर्द-गिर्द वास्तव में हो रही हैं। पारिवारिकता से मेरा बिलकुल ही परिचय न था। समाज से मैं हमेशा दूर रहा था। समाज के रीति-रिवाज, समाज की घटनाएं और समाज में होनेवाले सुधार इन सबसे मेरी पहचान भी नहीं थी।

मैं यह महसूस करता था कि समाज से मैं अपरिचित हूं, परन्तु काका के मतों से मैंने अपनी ऐसी धारणा बना ली थी कि पठन-पाठन और अध्यवसाय से हमें समाज का ज्ञान हो जाता है।

अखबार मैं अधिक पढ़ता न था, परन्तु दैनिक 'टाइम्स' काका को पढ़कर सुनाने का मेरे रोज़ के कार्यक्रम का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य था। कुछ मराठी दैनिक आया करते थे और कुछ खास साप्ताहिक भी आते थे; परन्तु मराठी अथवा कन्नड़ अखबारों को काका कभी न पढ़ते थे। देशी भाषाओं के ये अखबार, जो हमारे यहां आते थे, वे सिर्फ मेरे लिए आते थे, क्योंकि उन्हें पढ़ने का मुझे बहुत शौक था, और चूंकि वे मेरे लिए आते थे, इसीलिए मैं उन्हें पढ़ता था। इससे अधिक उन अखबारों के प्रति मेरे हृदय में आत्मीयता की अधिक भावना न थी।

यद्यपि यह बात थी, फिर भी पढ़ने का शौक होने के कारण उन अखबारों को बंद कर देने के लिए मैंने काका से कभी नहीं कहा।

पुस्तकें अलबत्ता बहुत संख्या में खरीदी जा रही थीं। काका के लिए तत्त्वज्ञान अथवा धर्म-सम्बन्धी यदि चार ग्रंथ खरीदे जाते, तो उन्हींके साथ मेरे लिए उनसे दूने उपन्यास खरीदे जाते थे। लंदन टाइम्स का लिटरेरी सप्लीमेंट नित्य नियम से पढ़ा जाता था और उसमें जिन पुस्तकों की सिफारिश की होती थी, उन्हें मैं अवश्य मंगवा लेता था। मराठी अथवा कन्नड़ पुस्तकें मैं विशेष नहीं खरीदता था। हां, अगर किसी पुस्तक की कहीं बहुत ही प्रशंसा सुनी या पढ़ी तभी मैं वह पुस्तक खरीदता था और पढ़ता था।

परन्तु पढ़ते-पढ़ते मेरी प्यास बढ़ने लगी और देशी भाषाओं की पुस्तकों को मैं अधिक संख्या में मंगवाने लगा। घर के काम-काज से निपटने के बाद मेरे पास काफी वक्त रहता था। उसे बिताने के लिए मुझे कुछ न कुछ पढ़ते रहना पड़ता था। गांव के लोगों से परिचय कर लेने की काका की वृत्ति न होने के कारण मुझे भी उन्हींकी रीति का अनुकरण करना पड़ता था। इस तरह मैं काका के घर का एक ऐसा कैदी हो बैठा था जो अपने जेलर का मित्र था।

इस सारी परिस्थिति को ध्यान में रख कोई भी यह अनुमान बांध सकता है कि उस छोटे-से विज्ञापन ने मेरे मन पर इतना प्रभाव क्यों डाला।

२

विज्ञापन उसी तरह जारी था, पर उसका कोई रहस्योद्घाटन नहीं हो पा रहा था।

बीच में मैं वसूली के लिए अपने गांव चला गया था। इसलिए उस अवधि के अखबार मुझे देखने को न मिले थे। जब गांव से लौटा तो यह ध्यान में होते हुए भी कि मुझे पुराने अखबार देखने हैं, मैं यह न कर पाया।

वह बात आखिर रह ही गई।

समूचे बेलगांव में सिर्फ एक ही परिवार ऐसा था जो हमारा थोड़ा-बहुत घरैया था। किसी त्योहार पर यदि उस परिवार से निमन्त्रण आ जाता, तो मैं उनके घर जाता था—कभी-कभार काका भी चले जाते थे।

काका किसीके भी घर जाना पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने पेंशन ले ली थी, फिर भी अधिकार की बू उनके हृदय से अभी तक नहीं गई थी। उनका बाना तो इस समय भी यही था कि सब लोग उनके घर आएं, पर वे कभी किसीके घर नहीं जाएंगे। यही कारण था कि इस परिवार के घर मैं भी बहुत ही कम जाता था।

हमारे घर में ईन-मीन साढ़े तीन आदमी थे, पर उस परिवार का घर मनुष्यों से हमेशा भरा रहता था और इसीलिए उस घर में बार-बार जाना मेरी जान पर आता था। मुझे अकेला रहने की इतनी आदत पड़ गई थी कि एक घर में एक से अधिक मनुष्य रहते हैं, यह कल्पना ही मुझसे बरदाश्त नहीं होती थी। उस घर की गड़बड़ी और वहां का शोर-गुल देखकर मैं बौखला उठता था। वहां के क्या लड़के, क्या लड़कियां, क्या बूढ़े और क्या जवान सभी एक-दूसरे से हमेशा किसी न किसी बात को लेकर झगड़ते ही नजर आते थे। दिन-भर हो-हल्ला करने में ही उस घर के निवासी अपना जौहर दिखाते थे। ऐसे इस शोर-गुल में ये लोग आखिर रहते कैसे हैं, इसीपर मुझे आश्चर्य होता था।

वैसे देखा जाए तो उस परिवार से मेरा थोड़ा रिश्ता भी था। थोड़ा क्यों? अगर यह कहूं कि अधिक रिश्ता था, फिर भी कोई हर्ज नहीं। उस घर के कर्ताधर्ता मेरे मामा थे। उनका देहान्त हो चुका था और उनके एक चचेरे भाई अब उस घर के कर्ताधर्ता बनकर परिवार पर शासन कर रहे थे। उस घर में स्वर्गवासी मामा की एक लड़की थी, जिसका नाम देवी था। वह मेरी ममेरी बहन थी। उस घर में वही एक लड़की थी जिससे मैं अपना सम्बन्ध जोड़ सकता था। परन्तु जब मैं रहने के लिए बेलगांव आया, उस समय मेरे मामा और मामी दोनों ही जीवित नहीं थे। इसलिए देवी

को इसकी कोई कल्पना नहीं थी कि मैं उसका कोई रिश्तेदार हूं और न मुझे ही यह मालूम था कि देवी से मेरा कोई नाता है। इसलिए इस नाते की कोई भावना मेरे हृदय में न थी।

नाते की भावना न होने पर भी देवी के प्रति मेरे हृदय के किसी कोने में थोड़ा गीलापन था। वह लड़की बड़ी होशियार थी। मैट्रिक पास हो गई थी। उस परिवार की साम्पत्तिक स्थिति इतनी तगड़ी थी कि देवी के पिता यदि जीवित होते तो उसे आगे कालेज में पढ़ने के लिए सांगली या कोल्हापुर अवश्य ही भेजते। परन्तु जिस तरह मैं अपने काका के घर में एक अनाथ लड़के की हैसियत से रहता था, उसी तरह वह भी अपने घर में एक अनाथ लड़की के नाते ही इस समय रह रही थी; और यही कारण था कि सहानुभूति के एक धागे ने हमें किसी जगह बांध रखा था।

उस दिन उनके घर कोई देव-कार्य था और इसीलिए मुझे निमंत्रण दिया गया था। काका नहीं आए थे। इसलिए मुझे अकेले को ही आना पड़ा था। मैं जिस समय वहां पहुंचा, उस समय वहां पड़ी हुई एक पुस्तक पर मेरी निगाह पड़ी।

मैं चौंक पड़ा। उस पुस्तक पर बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था—'खिलती कली'।

अच्छा ! तो 'खिलती कली' यह एक पुस्तक है ! पुस्तक का विज्ञापन करने का यह तरीका भी बड़ा अजीब है ! कितनी धूमधाम, कितनी चिल्लाहट ! लेखक का नाम नहीं, प्रकाशक कौन—इसका पता नहीं। पुस्तक कोई काव्य है, उपन्यास है या कि दर्शन पर लिखा कोई ग्रन्थ है—किसीका भी कोई पता नहीं। और एकदम उस पुस्तक को अपनी नज़रों के सामने पड़ी देखते ही मुझे एक प्रकार का धक्का लगा।

पुस्तक उठाकर मैंने हाथ में ली और उसे खोलने लगा। यह देख, उस घर के वर्तमान कर्ताधर्ता पुरुष शेषगिरराव मेरे पास आकर बोले, "अरे, यह पुस्तक तुम्हारे काम की नहीं। बड़ी गंदी पुस्तक है यह। जाने कहां का कौन लेखक है यह। उसने बड़ी ही वाहियात बातें लिखी हैं इसमें। ऐसी

पुस्तकों को ये प्रकाशक प्रकाशित ही क्यों करते हैं, यही मैं नहीं समझ पाता। और फिर यह पुस्तक हमारे घर में क्यों? हमने न इसे कभी मंगवाया था और न इसके लिए एक दमड़ी कहीं भेजी थी। जाने क्यों किसीने मामूली बुकपोस्ट से हमारे पते पर इसे भेज दिया—इसका क्या मतलब?"

पुस्तक खोलकर मैंने लेखक का नाम देखा। लेखक कोई 'कृष्णाजी बलवंत' थे। उनका नाम था, पर कुलनाम उसके साथ नहीं जुड़ा था। प्रकाशक था बम्बई का।

इधर-उधर पृष्ठों को पलटकर देखा, तो जान पड़ा कि वह कोई उपन्यास होगा।

यह देख कि मैं पुस्तक के पन्ने उलट रहा हूं, शेषगिरराव चिल्ला उठे, "फेंक दो उसे! अरे कोई उसे जला क्यों नहीं देता? हमारे घर में ऐसी पुस्तक के लिए कोई जगह नहीं।"

देवी वहीं बैठकखाने में खड़ी थी। शेषगिरराव के इन उद्गारों को सुनकर वह गालों में हंस रही थी। उसकी ओर मुड़कर मैंने कहा, "देवी, तुमने पढ़ी यह पुस्तक?"

"मैंने?" बड़ी-बड़ी आंखें करके वह बोली, "मैं, और यह ऐसी पुस्तक पढ़ूंगी!"

"पर यह 'ऐसी' पुस्तक है इसका पता तुम्हें कैसे चला?"

"अभी चाचाजी ने बताया न! वे पढ़ चुके हैं, फिर मैं क्यों पढ़ूं?"

"मैं भी पढ़ना चाहूंगा इसे।" शेषगिरराव की ओर मुड़कर मैं बोला।

"हां, पढ़ो।" शेषगिरराव चिड़चिड़े स्वर में बोले, "मुझे पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक तुम्हें बिलकुल अच्छी न लगेगी। तुम कोई आजकल के लड़कों की तरह नहीं हो। तुम्हारे काका हम लोगों का एक बड़ा सहारा हैं। उनके बल पर ही तो हम इन नवमतवादियों से जमकर लोहा ले रहे हैं। आजकल जहां देखो वहां भ्रष्टाचार मचा हुआ है। अरे भई, उपन्यास क्या पहले ज़माने के लोगों ने नहीं लिखे? क्या हमारे हरिनारायण आप्टे उपन्यासकार नहीं थे? उनके उपन्यास पढ़ो। उनमें ऐसी वाहियात बातें तुम्हें

खोजने से भी कहीं न मिलेंगी। बताम्रो, हैं कहीं ऐसी नई-नई वाहियात बातें ग्राप्टेजी के उपन्यासों में ?"

"पर वैसे देखा जाए तो कुल मिलाकर हरीभाऊ भी सुधारक ही थे।" मैंने सहमते-झिझकते-झिझकते कहा, "उन्होंने पुनर्विवाह कराए, पुनर्विवाहित स्त्रियों से पैदा हुए लड़के-लड़कियों के विवाहों की कोशिशें कीं—मुझे तो भई उनके वे विचार कुछ जंचते नहीं। कथा-साहित्य की दृष्टि से उनके उपन्यास का कुछ मूल्य है—वे बिलकुल ही बेकार हों यह बात नहीं; परन्तु यदि अपनी परम्परा की दृष्टि से उन्हें देखें तो हरीभाऊ के उपन्यास भी हमें अपने तरुणों के हाथों में न देने चाहिए, ऐसा मेरा ख्याल है। उनके उपन्यासों का प्रकाशन ही एकदम बंद करा देना चाहिए।"

देवी की ओर मुड़कर शेषगिरराव बोले, "सुना देवी, जब किसी तरुण में ऐसा बाना देखता हूं तो हृदय ग्रानन्द से भर उठता है। ऐसे मनुष्य जब पैदा होंगे तभी हमारी ग्रार्य-संस्कृति टिकी रह सकती है। ग्ररे, क्या हमारे पुराण नहीं हैं ? क्या महाभारत नहीं है ? भागवत नहीं है ? ग्रगर संस्कृत में उन्हें न पढ़ना हो तो देशी भाषाओं में हुए उनके अनुवाद पढ़ो, या देशी भाषाओं में लिखे तुलसीकृत रामायण जैसे ग्रन्थों को पढ़ो। योगवासिष्ठ पढ़ो। पर इन पुस्तकों को छोड़कर हर कोई लड़के-लड़कियों की कहानियां पढ़ता रहता है। क्या इन लड़के-लड़कियों की कहानियां पढ़ने से तुम्हारा ग्रात्मोद्धार होगा ? ···" शेषगिरराव लगातार व्याख्यान पिला रहे थे और देवी एक ओर मुंह करके गालों में हंस रही थी।

इसी समय किसीने पुकारा और शेषगिरराव चल दिए। मैंने देवी से पूछा, "तुम हंस क्यों रही हो ? तुम्हारे चाचाजी ने जो कहा, क्या वह झूठ है ? ऐसी लड़के-लड़कियों की कहानियां पढ़ने से हमें क्या फायदा ?"

"मैं भी तो यही कहती हूं। जब मैंने सुना कि तुम्हें हरीभाऊ के उपन्यास पसन्द नहीं, तो मुझे बड़ा अच्छा लगा—बड़ा संतोष हुआ। हरीभाऊ के ऐतिहासिक उपन्यास मैं पढ़ती हूं। वे हैं कुछ पढ़ने लायक—ऐसा नहीं कि बिलकुल ही रद्दी हों। यद्यपि उनसे हमें इतिहास का सही ज्ञान नहीं होता,

फिर भी उनसे हमारा सात्त्विक मनोरंजन होता है, यह सच है। पुराने ज़माने के दृश्य नज़रों के सामने मूर्त हो उठते हैं। पुराने लोग कितने देशाभिमानी और बहादुर थे, इसकी कल्पना हमें हो जाती है। लेकिन उनके सामाजिक उपन्यास—छि! छि! उन्हें तो छूना भी नहीं चाहिए, ऐसा मेरा दृढ़ मत है। हरीभाऊ आप्टे जैसा विद्वान मनुष्य ऐसे उपन्यास लिखे, यह सचमुच ही बड़े आश्चर्य की बात है!"

देवी पर मुझे बड़ा गर्व हुआ। हमारे समाज में उन दिनों मैट्रिक पास लड़कों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी। हम देशस्थों की जाति बड़ी पिछड़ी हुई है, ऐसी लोगों की धारणा है। उसमें भी हम रहते थे कन्नड़ प्रान्त में। कन्नड़ और मराठी दोनों ही भाषाओं को हमें समान रूप से पढ़ना पड़ता था। कन्नड़ भाषा में अधिक साहित्य नहीं, इसलिए सहज ही हमें मराठी की ओर मुड़ना पड़ता है। और मराठी में तो हैं ये ऐसी पुस्तकें। हमारी स्त्रियां अधिक पढ़ी-लिखी नहीं हैं, यह एक तरह से अच्छा ही है ऐसा मैं समझता हूं।

खाने पर बैठा था उस समय भी उस पुस्तक के ही बारे में चर्चा हो रही थी। आसपास के कुछ पड़ोसी भी खाने आए थे। प्रायः सभी हमारी ही जाति के थे, पर उनमें के एक महाशय अलबत्ता उस पुस्तक की तरफदारी कर रहे थे। बेलगांव में वे नये ही आए थे। स्कूल में मास्टर थे। उनकी प्रायः सारी शिक्षा बम्बई में ही हुई थी। बम्बई के वातावरण ने उनके विचारों को बिलकुल बिगाड़ दिया था। उनके विचारों को सुनकर मुझे बड़ा धक्का लगा।

उन महाशय का नाम था गंगाधर पन्त। वे बोले, "मैंने यह पुस्तक पढ़ी है। मैंने ही क्यों, इस बेलगांव में जितनी जल्दी और जितनी अधिक संख्या में यह पुस्तक बिकी, उतनी कोई दूसरी कभी बिकी होगी ऐसा मैंने नहीं देखा। जिन्हें-जिन्हें भी पढ़ना आता है, वे सभी इस पुस्तक को कम से कम एक बार तो पढ़ ही चुके हैं। अब आप ही का उदाहरण देता हूं। आपने भी यह पुस्तक पढ़ी। पुस्तक के शुरू-शुरू में ऐसा कुछ भाग अवश्य

है जो आपकी दृष्टि से आपके लिए अनुचित मालूम होता है, यह सच है। परन्तु फिर भी आपने पुस्तक फेंकी नहीं। आपकी बातों से स्पष्ट मालूम होता है कि आप उसे आगे पढ़ते गए, बिलकुल अंत तक आपने वह पढ़ी। गरज़ यह कि पुस्तक बड़ी रोचक है इसमें शक नहीं। जिस पुस्तक में इतनी रोचकता है कि नवमतों के प्रति घृणा रखनेवाले आप जैसे व्यक्ति भी उसे एक बैठक में पढ़ डालते हैं, तो उस पुस्तक में कोई विशेषता अवश्य ही होनी चाहिए यह तो आपको भी मानना पड़ेगा।"

"अजी, क्या खाक रोचकता है उसमें ?" शेषगिरराव चिढ़कर बोले, "मैंने इसलिए नहीं पढ़ी कि वह रोचक थी। मैंने सिर्फ यह देखने के लिए ही उसे पढ़ा कि लेखक ने कहानी का आरंभ कैसे किया है और उसका अन्त कहां किया है। अजी, विरोधकों के मानस का भी हमें पता लगाना चाहिए। यदि हमें यह न मालूम हो कि विरोधी किन-किन तर्कों से हमारा विरोध कर रहे हैं, तो हम उनका जवाब किस आधार पर दे सकेंगे ? इसीलिए मुझे पूरी पुस्तक पढ़नी पड़ी। लेखक ने पुस्तक की कोई भूमिका ही नहीं लिखी। आजकल यह एक नया ही तरीका शुरू हो गया है। लेखक अपनी पुस्तक की भूमिका ही नहीं लिखता। हमारी पहले ज़माने की पुस्तकें देखो—आपको बिना भूमिका की एक भी पुस्तक नहीं मिलेगी। जब भूमिका ही नहीं तो जिन-जिनको धन्यवाद देने हों या जिनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करनी हो, उनके नाम कहां से आएंगे ? जब लेखकों को किसीकी परवाह ही नहीं, तो वे क्यों देने चले किसीको धन्यवाद अथवा मानने चले किसीके आभार ? इन नये मतों का बीज ही यहां है। कृतज्ञता की भावना ही विलुप्त हो गई है इन नवमतवादी लोगों के हृदय से; और इसलिए हमारी संस्कृति का निर्माण करनेवाले हमारे जो पूर्वज हैं और उनका जो ऋण हमारे सिर पर है, उसकी याद अगर हमें नहीं रही तो इसमें आश्चर्य क्या ? प्रत्यक्ष सहायता करनेवाले मनुष्यों की याद की ही जहां परवाह नहीं, वहां पूर्वजों के उपकारों की कृतज्ञता की कौन चिन्ता करेगा ?"

गंगाधर पन्त बीच ही में बोले, "इस पुस्तक में पुराने ज़माने का कोई

इतिहास नहीं। इस पुस्तक से ऋषि-मुनि का कोई सम्बन्ध नहीं। वेद और उपनिषद लेखक की किसी गिनती में नहीं। इस लेखक ने जो भी लिखा है वह सब आज हमारी आंखों के सामने हमें नज़र आ रहा है।"

"वेद और उपनिषद् लेखक की किसी गिनती में नहीं ?" शेषगिरराव थाली पर हाथ पटककर बोले, "उस लेखक को आदमी कहूं या नहीं इसीका मुझे शक हो रहा है। वेदों और उपनिषदों को छोड़ दें तो फिर बचा ही क्या ? हमारी संस्कृति का सारा भार वेदों और उपनिषदों पर ही है···"

"ऐसा न कहिए शेषगिररावजी," गंगाधर पन्त बोले, "अच्छा तो यही है कि वेदों और उपनिषदों को हम हाथ ही न लगाएं। पुराण-काल को एक ओर रख देना ही उचित होगा। यदि हमने पुरानी बातों का आधार लिया तो इन नवमतवादियों को उनसे भरपूर समर्थन ही मिलेगा···"

शेषगिरराव कुछ न बोल स्तब्ध हो गए। इसलिए गंगाधरराव को भी अपनी बात बीच ही में रोक देनी पड़ी।

जब घर आने लगा तो शेषगिरराव से वह पुस्तक मैंने मांग ली।

३

नित्य की भांति मैं रेसकोर्स पर घूमने गया था। उस दिन काका मेरे साथ नहीं थे। पथरीली कुर्सी पर जाकर मैं बैठा ही था कि मेरी नज़र सहज ही दूसरी तरफ मुड़ पड़ी।

चार-पांच लड़कियों का दल टेकड़ी पर आता हुआ दिख रहा था। मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह क्या हो रहा है ? इन छोकरियों को घूमने बाहर क्यों जाना चाहिए ? हमारी माताएं और नानियां कभी घूमने नहीं जाती थीं। घर में जो व्यायाम हो जाता है क्या वह इन लड़कियों के लिए काफी नहीं होता ? भगवान की कृपा से हमारे बेलगांव में अभी पानी के नल नहीं

पधारे हैं, इसलिए कुएं से पानी खींचना पड़ता है। पर ये लड़कियां खुद पानी न खींच, नौकरों से पानी खिचवाती हैं और परम्परा को तोड़कर यूं बाहर घूमती हैं। यह देख मेरा मन विषण्ण हो गया।

उसी दिन वह पुस्तक मैंने पढ़ी थी। उस पुस्तक के पढ़ने से मुझे अत्यन्त दुःख हुआ था। हिन्दू धर्म की दृष्टि से जितने भी आचार, अनाचार और पाप माने गए हैं, उन सबको एक स्थान में संकलित कर वह कथानक निर्मित किया गया था। देव-धर्म, आचार-विचार और आर्य-संस्कृति किसीकी भी ज़रा भी परवाह नहीं की गई थी। जिधर देखो उधर स्वैराचार! ऐसे उस कथानक को पढ़ने के कारण मेरा मस्तक घूम गया था—और उसमें ही, लड़कियों के उस दल को सामने से आता देखकर मेरा उद्वेग और अधिक बढ़ गया।

पर आश्चर्य का धक्का तो मुझे आगे लगा। उन लड़कियों के दल में देवी थी। मुझे लगा, मेरी आंखें मुझे कहीं धोखा तो नहीं दे रही हैं।

लड़कियों का वह दल मेरी ओर ही मुड़ पड़ा। देवी हंसते-हंसते आगे आई और बोली, "तुम भी हवा खाने आए हो शायद?"

"देवी!" मैंने आश्चर्य-भरे स्वर में उसे इस तरह सम्बोधित किया और उसकी ओर सिर्फ देखता रहा।

"क्यों? क्या हुआ?" वह बोली।

"मैंने तुम्हें हवा खाने के लिए घर के बाहर घूमते कभी नहीं देखा था। मैं यहां घूमने रोज़ आता हूं। पर तुम्हें आज ही यहां देख रहा हूं।"

"सच है!" देवी हंसती हुई बोली।

उसके उस हास्य का मेरे मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उस पुस्तक के बारे में शेषगिरराव जिस समय बातें कर रहे थे, उस समय वह जिस प्रकार हंसी थी, वही छटा इस बार भी उसके इस हास्य पर चमकती हुई दिखाई दी।

"हंस क्यों रही हो?" मेरे स्वर में क्रोध झांक रहा था, "मैं रोज़ घूमने आता हूं। उसी तरह आज भी आया हूं। पर तुम क्यों आईं आज

घूमने ?"

देवी के साथ की एक लड़की, जो काफी ढीठ मालूम होती थी, आगे बढ़कर बोली, "क्यों साहब, हमें क्यों नहीं घूमना चाहिए ? क्या प्राण आप ही में हैं और हम सब क्या अंग्रेज़ी गाएं हैं ?"

"अंग्रेज़ी गायों का क्या मतलब ?" एक दूसरी लड़की ने पूछा।

"क्यों, क्या तू इतनी जल्दी भूल गई ?" वह ढीठ लड़की बोली, "काऊ हैज़ नो सोल !"

सारी लड़कियां खिलखिलाकर हंस पड़ीं। मेरे रौंगटे खड़े हो गए। दुनिया किस ओर जा रही है ? यहां तक कि देवी भी 'ऐसी' लड़कियों के साथ ?

गम्भीरता से मैं बोला, "देवी, तुम्हें यह शोभा नहीं देता। क्या तुम अपने घर के आचार-विचारों और परम्पराओं को भूल गई ? यदि कोई कहे कि शेषगिरराव के परिवार की लड़की हवा खाने बाहर घूमने जाती है, तो क्या कोई इसपर कभी विश्वास भी करेगा ?"

बाकी की लड़कियां आपस में हंसी-मज़ाक कर रही थीं, खिलखिला रही थीं, एक-दूसरे से कानाफूसी कर रही थीं, शायद मेरी निंदा कर रही होंगी; पर देवी अलबत्ता गम्भीरता से चुप खड़ी थी।

"क्यों ? बोलतीं क्यों नहीं ?" मैंने पूछा, "क्यों आईं घूमने ? और वह भी 'ऐसी' छोकरियों के साथ ?"

"मुझे क्षमा कर दो।" देवी शर्मिंदा होकर बोली, "मुझसे भूल हो गई। अब तुमसे एक प्रार्थना करना चाहती हूं। कृपा कर मेरे घर किसीसे न कहना कि मैं घूमने गई थी। बिलकुल कभी भी मत कहना—समझे ? कभी भी मत कहना। बात यह हुई कि सदा की तरह मैं सहज वासन्ती के घर गई थी। उसने घूमने का प्रोग्राम बनाया। मैंने भी सोचा, क्या हर्ज है अगर बाहर जाकर थोड़ा घूम आऊं ? सब पुरुष हवा खाने बाहर जाते हैं। शाम को मीलों घूमते हैं। अपना स्वास्थ्य बनाते हैं। तरह-तरह के दृश्य देखकर अपना मनोरंजन करते हैं। परन्तु हम लड़कियां सिर्फ एक ही सड़क

जानती हूँ। घर से शाला और शाला से घर। इस तरफ मैं कभी आई नहीं थी। सोचा, यह भाग भी देख लूं। फिर अकेली थी नहीं, ये सब लड़कियां भी साथ थीं। खैर, पर देखो, मेरे घर किसीको बताना नहीं कि मैं बाहर घूमने गई थी।"

उसकी इस बात पर मुझे हंसी आई। पर यह देखकर कि कम से कम उसने अपनी गलती तो महसूस कर ली, मुझे बड़ी खुशी हुई।

देवी ने लौटने की जल्दी मचाई। इस कारण अन्य लड़कियों को भी लौटना पड़ा। वे सब चल दीं और सड़क के किनारे खड़ी बैलगाड़ी में बैठीं।

ठीक! तो ये घर से बैलगाड़ी में बैठकर शहर के बाहर आई थीं? कम से कम इतनी ही गनीमत रही कि शहर की सड़कों को रौंदती हुई नहीं आईं!

उस दिन भिन्न ही विचारों ने मेरे दिल को बेचैन कर दिया। उन तरुणी लड़कियों को बड़ी आज़ादी से फुदकती हुई देखकर उस समय ऊपरी तौर पर यद्यपि मुझे बुरा लगा था, फिर भी, बाद में जब सोचा तो लगा कि उस दृश्य में भी एक प्रकार का आकर्षण था। मैं आज तक वेलगांव में ऐसी स्त्रियां देखता रहा था जो मुंह छिपाए घर की देहलीज़ पर खड़ी रहती थीं अथवा पुरुष के आते ही सहमी हुई बिल्ली की तरह एकदम घर में घुस जाती थीं। ये लड़कियां शहर से बाहर आकर यदि खुली हवा में घूमती हैं तो हर्ज क्या है? हम पुरुष भी तो आखिर बाहर घूमते ही हैं न? फिर स्त्रियों को भी क्यों न घूमना चाहिए?

मन ही मन मैंने अपने हृदय को चिकौटी काटी।

मेरे मन में ऐसा नापाक विचार क्यों आया? यह सब उस पुस्तक के पढ़ने का प्रभाव है। छि! छि! अब आगे ऐसी पुस्तकों को छूना भी नहीं चाहिए। उस पुस्तक के कारण यह कैसा वाहियात विचार मेरे मन में उठ आया? राम! राम! भगवान बचाए ऐसे विचार से!

इसी विषय पर विचार करता हुआ मैं घर लौट रहा था। देवी का चेहरा मेरी नज़रों के सामने बार-बार झूल रहा था।

आज मुझे यह क्या हो गया है ? क्या इससे पहले मैंने देवी को कभी देखा नहीं था ? अपनी सहेलियों को आंख का इशारा कर जब वह खूब खिलखिलाकर हंसी थी, उसका वह हास्य मुझे याद हो आया। उसका वह हंसता चेहरा न चाहकर भी मेरी नजरों के सामने पुनः मूर्त हो उठा।

उस हास्य में काव्य था। जगन्नाथ पण्डित के श्लोक मुझे याद आने लगे। इन पुराने कवियों को क्या हमारी आर्य-संस्कृति का ज्ञान नहीं था ? क्यों उन्होंने ऐसे श्लोक लिखे ? क्या उन्हें यह कल्पना नहीं थी कि शृंगार-रस से लबालब भरे हुए उनके श्लोकों का पाठकों के मन पर कोई प्रभाव पड़ेगा ? वे तो हमसे भी पहले पैदा हुए थे। पाश्चात्य संस्कृति की तो उन्हें कोई जानकारी ही नहीं थी।

मेरा दिमाग बिलकुल चकरा गया था। इन्हीं विचारों में खोया हुआ मैं घर पहुंचा। कपड़े उतारकर रख ही रहा था कि काका की गर्जना कानों में पड़ी :

"कौन लाया है यह पुस्तक हमारे घर में ? किसकी पुस्तक है यह ? ऐसी पुस्तक का हमारे यहां क्या काम ?"

नम्रता से मैंने उत्तर दिया, "शेषगिरराव के घर से मैं लाया हूं इसे।"

"शेषगिरराव के घर से ?" काका क्रोध से चिल्लाकर बोले, "शेष-गिरराव के घर ऐसी पुस्तकें कब से आने लगीं ? उस गधे की अक्ल यूं कैसे मारी गई ? वह बेवकूफ ऐसी पुस्तकें कब से पढ़ने लगा ?"

"यह बात नहीं, काकाजी !" मैंने पुनः बड़ी विनम्रता से कहा, "उनके बिना मंगाए ही किसीने उन्हें यह भेज दी। मालूम होता है, जान-बूझकर ही भेजी गई है उनके दिल को चोट पहुंचाने के लिए।"

"कैसे हरामज़ादे हैं ये लेखक लोग ! बिना मांगे ही पुस्तक भेज दी ? अथ से इति तक सिवा स्वैराचार के इस पुस्तक में दूसरी बात नहीं···"

"क्या आपने भी पूरी पुस्तक पढ़ ली, काका ?" मैंने धीरे-से पूछा।

"पढ़ ली का मतलब ?" काका उस पुस्तक को ज़ोर से ज़मीन पर पटककर बोले, "बिलकुल, अथ से लेकर इति तक पढ़ी। कौन है जो ऐसी

पुस्तक को पढ़ना शुरू करे और फिर उसे आखिर तक न पढ़े ? सोचा, देखूं क्या है इस 'खिलती कली' में। कहां तक गया है यह लेखक—पिता एक लड़की की शादी कर देता है। पर वह लड़की पहले से ही किसी दूसरे पुरुष से प्रेम करती होती है। शादी के बाद भी लड़की का पूर्वप्रेमी उससे हमेशा मिला करता है और फिर वह लड़की अपने शादीशुदा पति को छोड़कर अपने उस पूर्वप्रेमी के साथ भाग जाती है और फिर उनके मिलन से उन्हें एक लड़का भी होता है। वाह रे कहानी ! हरामज़ादों को स्याही मिल गई, लेखनी मिल गई, थोड़े कागज़ मिल गए, कि लगे घसीटने मनमाना ! अरे, ऐसा कभी हुआ है ?"

जितना हो सका उतना साहस समेटकर मैंने कहा, "यह तो नहीं कह सकते कि ऐसा हो नहीं सकता। शायद प्रेम का कोई झमेला न रहा हो, पर अपने हरेश्वररावजी की पत्नी का भी किस्सा तो कुछ इसी प्रकार का था न ?"

"इसी प्रकार का ?" काका होंठ चबाकर बोले, "वह हरामज़ादी तो इससे भी आगे बढ़ गई थी। धींगामस्ती ही मचा दी थी उस दईमारी ने ! पर हम क्या कर सकते हैं ? हमारी ही रिश्तेदार जो है ! हमें ज़बान रोकनी पड़ती है। कुछ भी हो, रिश्तेदार के पापों को ढांकना ही पड़ता है..."

"रिश्तेदारों के पापों को क्यों ढांकना चाहिए ?" मैंने धीरे से कहा, "लाख कोई हमारा रिश्तेदार हो, पर जब वह कोई अनीति करता है, तो हमें उससे उसकी कैफियत तलब करनी चाहिए, उसे उसके पाप का दंड भी देना चाहिए।"

चढ़े हुए स्वर को नीचे गिराकर काका बोले, "अरे भई, ईश्वर ने क्या उसे कम दंड दिया ? जाने वह कहां का कौन था ? उसके साथ वह भाग गई थी। बाद में इसे अपनी किस्मत पर छोड़कर वह हरामज़ादा एक दिन फरार हो गया। अब मारी-मारी फिरती है इधर-उधर। पति के साथ बड़े सुख से रहती थी। अच्छा, भरा-पूरा घर था। जाने कहां के गवैये से दिल लग गया उसका और उसके साथ भाग खड़ी हुई। क्या सुख मिला उसे ?"

बोलते-बोलते काका चल दिए। मैं सोचता रहा, 'अपने रिश्तेदारों के पापों को क्यों छिपाना चाहिए हमें और सिर्फ दूसरों के ही पापों और दोषों को क्यों दिखाना चाहिए ?'

विचारों की शृंखला जाने कहां-कहां हिलोरें ले रही थी। बार-बार देवी की याद आ रही थी। बार-बार उसका वह हंसता चेहरा मेरी नज़रों के सामने मूर्त हो उठता था। उसके मुंह के उद्गार उस समय मेरे कानों में गूंजने लगे।

मुझे लगा, देवी कह रही थी, 'सिर्फ दूसरों के ही पाप हम दिखाएं, और अपने रिश्तेदारों के पापों को छिपाए रखें ? सो क्यों ?' मेरे ही उद्-गार देवी के मुंह में क्यों आए ? क्या देवी सचमुच ही ऐसा कहती थी ?

काका ने गुस्से से पुस्तक ज़मीन पर फेंक दी थी। मैंने वह उठा ली; मन में निश्चय किया, 'इसे एक बार फिर पढ़ूंगा, इसके नोट्स लूंगा। फिर इसपर एक सनसनीखेज लेख लिखकर किसी पत्र या पत्रिका में छापने को भेजूंगा।'

उस रात मैंने उस पुस्तक को दो-तीन बार पढ़ा। जैसे-जैसे मैं वह पुस्तक अधिक ध्यान से पढ़ने लगा, वैसे-वैसे स्वैराचारिणी लगनेवाली उस स्त्री के प्रति मेरे हृदय में अनुकंपा जागने लगी। उसका पति उसे तंग करता था, उसपर भयंकर अत्याचार करता था। पद-पद पर उसपर शक करता था। उसे मारता था। ठीक से उसे खाने को भी नहीं देता था। इन सब यंत्रणाओं को सहते हुए उसे पति के पास क्यों रहना चाहिए था ? ऐशो-आराम चाहे नसीब न होता हो उसे, पर दरिद्रता में भी क्या कोई सुख नहीं होता ? जिस दरिद्री मनुष्य के साथ वह भागकर चली गई, उसीके सहवास में उस स्त्री को सुख की निधि प्राप्त हुई, ऐसा लेखक ने लिखा था। सचमुच ही यदि उसे उस दरिद्री के पास सुख का खज़ाना मिला होगा, तो उस स्त्री को उस दरिद्री के पास क्यों नहीं जाना चाहिए था ?

पुस्तक मैंने एक ओर फेंक दी। जो यह कहते हैं कि उपन्यास पढ़ना अच्छा नहीं, उनके कथन में मुझे सचाई मालूम हुई।

लेखक की शैली दूसरे कई लेखकों की अपेक्षा बिलकुल अलग थी। पुस्तक पढ़ते समय ऐसा लगता था जैसे लेखक हमारे सामने खड़ा है और अपना पक्ष उपस्थित कर रहा है। हर पात्र से बिलकुल एकरस होकर बड़ी तन्मयता से लेखक ने वह पुस्तक लिखी थी। इतना प्रभावशाली लेखक ऐसा भ्रष्ट साहित्य निर्मित करे, तो क्या यह मराठी भाषा का दुर्भाग्य नहीं? लेखक यदि आर्य-संस्कृति के प्रति अभिमान रखकर किसी पतिव्रता स्त्री का चित्र खींचता...

पतिव्रता स्त्री का चित्र—यानी कैसा? उसका पति उसे मारता था, उसे पेट भर खाने को भी नहीं देता था, दूसरी स्त्रियां घर में लाकर उनसे दिन-भर धींगामस्ती करता था, इन स्त्रियों की सेवा उसे करनी पड़ती थी...

एक क्षण के लिए मैंने सोचा। मैंने यह कल्पना की कि उस स्त्री के स्थान पर मैं हूं; तब मेरा मन डगमगाने लगा। अत्यन्त यंत्रणाओं के बीच पति-सेवा के व्रत को अचल बनाए रखना क्या मानवी जीव के लिए सम्भव है? वह स्त्री यन्त्रणाएं क्यों सहन करती? उसका पति स्वैराचार करता था और जिन स्त्रियों से वह इस तरह के अनैतिक सम्बन्ध रख रहा था, उन स्त्रियों की सेवा इस बेचारी को करनी पड़ती थी। मैं यदि उसके स्थान पर होता तो ऐसी सेवा क्या मैं खुशी से करता?

पर आर्य-संस्कृति क्या कहती है?—आनन्द से ऐसी सेवा की जाए यही पतिव्रत-धर्म है—पतिव्रता का लक्षण है।

आर्य-संस्कृति की दृष्टि से क्या यह पति-सेवा का ही एक भाग नहीं है? हाड़-मांस का मनुष्य—भावनाप्रवण जीव—इतने अत्याचार सहन करके भी आनन्द से रहता है, यह कल्पना किसीको कदाचित् हृदयंगम लगे, पर क्या वह वास्तविक है?

मस्तक में इस प्रकार के आघात हो रहे थे। फेंकी हुई पुस्तक को मैंने पुनः हाथ में लिया और उसे पुनः पढ़ना शुरू किया।

कितनी ही बार मैंने उसे पढ़ा। यह कितना पाप कर रहा था मैं? काका को यदि इसका पता चला तो वे क्या कहेंगे? उस पुस्तक के प्रति

किसी भी तरह मेरे मन में घृणा पैदा हो जाए इसकी मैं भरसक कोशिश कर रहा था। पर जैसे-जैसे मैं उसे पढ़ता था, वैसे-वैसे घृणा जागने के बजाय सहानुभूति का बीज मेरे हृदय में अंकुरित हो रहा था।

अधूरी पढ़कर बीच ही में मैंने वह पुस्तक फेंक दी और सो गया।

४

मेरे मन में उस समय एक विचार आने लगा जो इससे पहले कभी नहीं आया था। शेषगिरराव अपने को बड़े पुराणपंथी कहते हैं। वे हमेशा यह डींग हांका करते हैं कि पुरानी परंपराओं के प्रति उन्हें बड़ा अभिमान है। इसके बावजूद देवी इतनी सयानी हो गई, फिर भी उन्होंने उसका अभी तक विवाह नहीं किया। यह क्यों ?

इससे पहले कितने ही बार मैं उनके घर गया था। देवी को भी अनेक बार देखा था। ठीक देवी जैसी दूसरी लड़कियां भी मैंने उस समय न देखी थीं, यह बात नहीं। साधारणतः उस समय बेलगांव में भी लड़कियों के विवाह की उम्र पहले से बदल गई थी। पहले अधिक से अधिक बारह वर्ष की उम्र में लड़की का विवाह कर दिया जाता था। परन्तु ऐसा अब कहीं दीख ही नहीं पड़ता। इसके बावजूद कम से कम हमारी जाति में तो देवी की वर्तमान उम्र तक जिसका विवाह न हुआ हो, ऐसी कुमारी लड़की शायद ही कभी दिखा करती। इसलिए मेरे सामने प्रश्न यह था कि देवी के विवाह के मामले में पुराने विचारों के प्रति शेषगिरराव का ज्वलन्त अभिमान कहां चल दिया ?

मुझे स्वयं ही लगने लगा कि यह प्रश्न मेरे मन में आखिर उठा ही क्यों ? देवी मेरे मामा की लड़की थी यह सच है, पर उसके विवाह की ज़िम्मेदारी मुझपर नहीं थी। काका के एक मित्र की लड़की की हैसियत

से जितनी प्रमुखता से वह मेरे ध्यान में आती, उतनी प्रमुखता से मामा के नाते वह मेरी नज़रों के सामने नहीं आती थी।

क्या यह उस पुस्तक का प्रभाव था? लेकिन उस पुस्तक का देवी के विवाह से क्या सम्बन्ध?

उस दिन से शेषगिरराव के घर, मेरे चक्कर, कोई कारण न होते हुए भी लगने लगे। यह देख कि बिना निमन्त्रण के उनके घर कभी न जानेवाला मैं अब बिना निमन्त्रण के और बिना कोई कारण हुए उनके घर चक्कर काटने लगा हूं, उन्हें भी पहले-पहल आश्चर्य हुआ।

एक बार इस विषय में उन्होंने मुझसे पूछा भी। तब मैंने उनसे कहा, "अपने घर में मुझे बड़ा सूना-सूना-सा लगता है। काम बहुत कम रहता है, समय काटे नहीं कटता। बातें करने के लिए सिर्फ काका हैं और वे हैं बुज़ुर्ग! उनसे क्या गप्पें लगाऊं? पुस्तकें भी पढ़ूं तो कितनी और कब तक पढ़ता रहूं? आखिर इंसान हूं। दिलबहलाव के लिए तो कुछ चाहिए ही न? इसलिए चला आता हूं यहां उस सुख की खोज में···"

मेरे उत्तर पर शेषगिरराव सिर्फ हंस पड़े। वे क्यों हंसे, यह मैं नहीं समझ पाया। मुझे लगा, उनके मन को कोई शक तो नहीं छू गया?

पर उन्हें शक किस बात का होगा? शक के लिए वजह क्या थी? मैंने आखिर ऐसा किया ही क्या था जिससे उन्हें कोई शक हो? पहले मैं उनके घर नहीं जाता था, पर अब जाने लगा था। तो सिर्फ इसलिए ही उन्हें मुझसे प्रश्न पूछने की क्या ज़रूरत थी? सच पूछा जाए तो उन्हें पूछना यह था कि पहले मैं उनके घर बार-बार क्यों नहीं आता था और इसके लिए मुझपर नाराज़ होना था। सो यह तो रहा एक तरफ और मुझसे पूछा कि बार-बार मैं क्यों आता हूं? अजीब स्वभाव पाया है इस मनुष्य ने!

शेषगिरराव के घर का वातावरण यद्यपि बिलकुल पुराणपंथी था, फिर भी देवी के बारे में वे अधिक कड़ाई से काम नहीं लेते थे। वह बिना मां-बाप की अनाथ लड़की थी। ऊपर से उन्हें भी कोई लड़की नहीं थी। बचपन से ही वे उसे क्षमा की दृष्टि से देखते थे। यदि कोई देवी पर क्रोध करता, तो

वह उनसे बरदाश्त न होता था।

धीरे-धीरे ये रियायतें बढ़ती गई और देवी के कुल मामले में शेषगिर-राव ने कड़ाई दिखाना प्रायः छोड़ ही दिया।

उनके परिवार की कोई भी लड़की मैट्रिक पास नहीं थी। बल्कि बेल-गांव की हमारी बिरादरी में, मेरा खयाल है, देवी ही पहली लड़की थी जिसने मैट्रिक पास की थी। इसलिए उसके प्रति सभीको अभिमान था। लड़कियों को पढ़ाना पुराणपंथी वृत्ति का लक्षण नहीं था। इसके बावजूद शेषगिरराव अपने ढंग से इसका समर्थन किया करते थे। वे कहते, 'कुछ ऐसा आचरण भी होता है न जिसकी इजाज़त केवल आपत्काल के लिए होती है। आजकल के ज़माने में यदि लड़की अच्छी पढ़ी-लिखी न हो, तो उसे सुयोग्य वर प्राप्त होना बड़ा कठिन हो जाता है। हमारे परिवार में सिर्फ यही तो एक लड़की है। ऊपर से बेचारी अनाथ है। अन्य लड़कियों को उनके मां-बाप पढ़ाते हैं। यदि मैं इसे न पढ़ाता तो लोग यही कहते कि मैंने इसे अपने मतों के लिए नहीं, बल्कि अपनी धार्मिक भावनाओं के लिए नहीं पढ़ाया। यह आरोप मुझपर न हो इसीलिए मैं देवी को सारी सहूलियतें दे रहा हूं।'

ये बातें भी देवी के सामने ही हुआ करती थीं, इस कारण उसके मन पर भी इसका प्रभाव पड़ता था।

एक दिन मैं नित्य की भांति रेसकोर्स पर घूमने गया था। अपने निश्चित स्थान पर जाकर मैं बैठा ही था कि सामने से देवी अकेली ही मेरी ओर आती हुई मुझे दीख पड़ी।

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। जिस समय देवी अपनी सहेलियों के साथ घूमने आई थी, उस समय ही मुझे बड़ा अजीब-सा लगा था; पर अब उसे बिलकुल अकेली आई देख, मुझे आश्चर्य का एक ज़बरदस्त धक्का लगा।

यह कैसे हुआ?

वह आई और हंसते-हंसते मेरे सामने आने लगी। मुझे लगा कि जैसे वह मुझसे ही बातें करने के लिए जान-बूझकर आई है।

आकर वह मेरे सामने खड़ी हो गई। मैं उसकी ओर सिर्फ देखता रहा। वह बोली, "इस तरह मेरी तरफ क्या देख रहे हो? क्या इसलिए कि आज मैं घूमने अकेली ही आई हूं? आश्चर्य तो अवश्य है, पर मैंने सोचा, एक बार हिम्मत करके देखूं।"

"पर तुम्हें घर के लोगों ने इजाज़त कैसे दी?" मैंने पूछा।

"देवी बड़े ज़ोर से हंस पड़ी और बोली, "इजाज़त? अगर इजाज़त मांगती तो कभी न मिलती; इसलिए मैंने स्वयं अपने-आपसे इजाज़त ले ली। आज दूसरी लड़कियां आई नहीं थीं। इसलिए सोचा, अकेली ही चल दूं और देखूं क्या होता है। घर बैठे-बैठे तबियत ऊब उठती है। लगता है जैसे किसी कैदखाने में बन्द हूं···" बोलते समय वह इतनी शोखी से हंस रही थी कि उसे देखकर मैं हक्का-बक्का हो उठा। इतनी सुस्थिति में बढ़ी हुई लड़की इतनी शोखी क्यों कर रही है, यह मैं समझ नहीं पा रहा था।

यह देख कि मैं खामोश हूं, कुछ भी नहीं बोल रहा हूं, वह मेरे नज़दीक आकर बैठ गई। यद्यपि वह मेरे बिलकुल ही नज़दीक नहीं बैठी थी, फिर भी मैं अपने स्थान से कुछ दूर और सरक गया।

मेरी यह हलचल देख वह और भी अधिक शोखी से हंसने लगी। तब चिढ़कर मैं बोला, "शर्म नहीं आती तुम्हें? कोई देख ले, तो क्या कहेगा? तुम अगर मुझसे इस तरह सटकर बैठने लगीं···"

"सटकर कहां बैठी हूं मैं? जैसे दुनिया बैठती है, उसी तरह एक तरफ बैठी हूं मैं। इसमें बिगड़ क्या गया? क्या घर में हम दोनों इस तरह नजदीक-नजदीक नहीं बैठते?"

"घर और बाहर दोनों को क्या तुम एक समान ही समझती हो? अरे भई, अनुशासन और शिष्टता भी तो कुछ होती है न? तुम एक सभ्य परिवार की लड़की हो। किसी ऐरे-गैरे पुरुष के साथ तुम इस तरह सटकर बैठीं और यह बात तुम्हारे घरवालों के कानों में पड़ी, तो इसका क्या नतीजा होगा इसकी कोई कल्पना भी है तुम्हें?"

"तो फिर छोड़ो यह स्थान और चलो उस तरफ टेकड़ी पर। वहीं

बैठेंगे।" ऐसा कहकर वह उठ पड़ी।

मैं भी अनजाने उठ पड़ा। यद्यपि मेरा मन नहीं कर रहा था कि उठकर उसके साथ जाऊं, फिर भी उसके कदम बढ़ाते ही मैं भी उसके साथ चलने लगा। पथरीली कुर्सी से नीचे उतरकर वह बिना कुछ बोले सीधी चल रही थी और उससे थोड़ा अन्तर रखकर मैं उसके पीछे-पीछे जा रहा था। मेरा उद्देश्य यह था कि कोई यह न समझे कि मैं उसके साथ जा रहा हूं; बल्कि यह समझे कि मैं यह देखने के लिए ही चोरी-चोरी उसके पीछे जा रहा हूं कि वह कहां जाती है?

एक स्थान पर जाकर वह बैठी; मैं भी वहीं बैठ गया। वह मुझसे सटकर न बैठे, इसलिए इस समय मैं उसके सामने बैठा था।

गम्भीरता से देवी ने मुझसे पूछा, "वह पुस्तक पढ़ी तुमने?"

"हां, पढ़ी।" ऐसा कहकर मैं खामोश रहा।

"फिर क्या खयाल है तुम्हारा उसके बारे में?"

"मुझे तो वह पुस्तक अच्छी नहीं लगी। सब तरफ उसमें अनैतिकता ही भरी है। जिस भी मनुष्य को हमारी भारतीय संस्कृति का अच्छा ज्ञान होगा, उसके मन में उस पुस्तक को पढ़ने पर घृणा ही उत्पन्न होगी।"

"क्या तुम्हें भी घृणा हुई?"

क्या उत्तर दूं, यह मैं निश्चित नहीं कर पा रहा था। एक मन करता था कि 'हां' कह दूं; पर यदि वैसा कह देता तो मैं झूठ बोलता।

वह बोली, "भारतीय संस्कृति के विरुद्ध उस स्त्री ने बर्ताव किया है इसमें शक नहीं और यह भी झूठ नहीं कि उसका आचरण भारतीय परम्पराओं के अनुसार नहीं रहा; परन्तु जिस परिस्थिति में वह फंस गई थी, उस परिस्थिति में तुम्हारे खयाल से उसे क्या करना चाहिए था? हमारी नज़रों के सामने ऐसी घटनाएं हुई हैं। उस तरह की विशिष्ट परिस्थिति में फंसी हुई स्त्रियां मैंने देखी हैं। तुमने भी देखी हैं। मान लो वे तुम्हारी सलाह लेने आतीं, तो तुम उन्हें क्या सलाह देते?"

मैं असमंजस में पड़ गया; पर परम्परा के प्रति अपना अभिमान छोड़ने

को मैं तैयार नहीं था। मैंने कहा, "भाग्य किसीके हाथ में नहीं होता। सब बातें भाग्याधीन हैं। उसके भाग्य में सुख नहीं लिखा था। उसका विवाह हुआ और अपने भाग्यानुसार उसे यन्त्रणाएं सहन करनी पड़ीं। उसे यह मानकर कि अपना भाग्य ही खोटा है, वे सब यन्त्रणाएं चुपचाप सहन कर लेनी चाहिए थीं।"

"मान लो उसके भाग्य में पति का घर छोड़कर भाग जाना ही लिखा था और उसके अनुसार उसे भागना पड़ा, तो हम उसे दोष किसी तरह दे सकते हैं? ऐसी हालत में हमें व्यक्ति को नहीं, बल्कि उसके भाग्य को ही दोष देना चाहिए। व्यक्ति ने जो किया वह भाग्य ने ही उससे कराया, ऐसा ही हम क्यों न कहें? कहते हैं, मनुष्य जब पैदा होता है तो अपना भाग्य भी अपने साथ लाता है। फिर, यदि भाग्य के कारण कुछ हो जाए, तो उसे पाप क्यों कहना चाहिए? कोई विकट प्रसंग आ जाता है और उससे बच निकलने लायक हिम्मत जब हममें नहीं होती, तो हम अपने भाग्य को दोष देते हैं; लेकिन अगर कोई ऐसी हिम्मत दिखाए और उस हिम्मत के दिखाने के कारण वह व्यक्ति दोषी सिद्ध हो, तो उस दोष की ज़िम्मेदारी भी हमें भाग्य ही पर क्यों न डालनी चाहिए? जब हम यह कहते हैं कि सारी बातें भाग्य के कारण ही होती हैं, तब यह मानकर कि सार्वजनिक दृष्टि से व्यक्ति ने जो अपराध किया है अथवा जो परम्परा उसने तोड़ी है, वह भाग्य के कारण ही उसके द्वारा तोड़ी गई है, हम उस व्यक्ति को निर्दोष क्यों न समझें?"

मुझे उत्तर नहीं सूझ पा रहा था। भाग्य की कल्पना बहुत कुछ रबर की तरह है। जिस तरफ खींचो उस तरफ ही तन जाती है। दोषों पर परदा डालने के लिए भाग्य का सहारा लिया जाएगा, यह कल्पना ही मुझे न थी।

वही आगे बोली, "सभी बातें यदि भाग्याधीन हैं तो फिर मनुष्य दोषी कैसे सिद्ध होता है? क्या मनुष्य में कर्तृत्व-शक्ति बिलकुल है ही नहीं? कर्तृत्व-शक्ति की प्रत्येक हलचल को यदि हम भाग्य के अधीन रख दें तो भाग्य का अर्थ क्या होगा?"

देवी अब तत्त्वज्ञान में प्रवेश करने लगी थी। मैंने कहा, "संचित, क्रियमाण और भाग्य—इनकी वेदांत में जो व्याख्या की है वह किस तत्त्व पर अधिष्ठित हुई है, इसका अध्ययन किया है क्या तुमने ?"

देवी हंस पड़ी—इतने अजीब तरह से हंसी कि उसे देख मैं शर्मा गया। वह बोली, "विद्वानों ने तत्त्वज्ञान पर जो ग्रन्थ लिखे हैं, वे उन प्रसंगों के अवलोकन पर आधारित हैं जो संसार में घटा करते हैं। जो वे देख सके वह क्या हम नहीं देख सकेंगे ? उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले वे क्या हम नहीं निकाल सकेंगे ? उन्होंने जिस बात को अभिषापित सिद्ध कर दिया है, क्या अपने अवलोकन के अनुसार हम उसमें सुधार नहीं कर सकते ? ऋषि-मुनि जो बता गए हैं उसीको हम स्थापित मानें, और हमारे सामने प्रत्यक्ष जो दीख रहा है, उसकी ओर हम कोई ध्यान न दें, तो क्या यह मनुष्यता होगी? तुम तत्त्वज्ञानी कहते हो कि मनुष्य ईश्वर का अंश है। ईश्वर में कोई कर्तृत्व-शक्ति तो है न ? उस कर्तृत्व-शक्ति का कम से कम कुछ न कुछ अंश क्या मनुष्य में प्रतिबिंबित नहीं होगा ? ईश्वर 'कर्तुम कर्तुम अन्यथा कर्तुम' होगा, पर 'अन्यथा कर्तुम' शक्ति मान लो मनुष्य में न हुई, फिर भी जितनी कर्तृत्व-शक्ति उसमें आई है उतने के ही आधार पर यदि वह अकल्पनीय प्रसंगों से लड़ता है, तो क्या यह उसके भीतर का ईश्वरीय तेज ही नहीं है ?"

मैं दंग रह गया। मुझे लगा, देवी ने भी दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया है। कहां पढ़ा इसने इतना बहुत-सा ?

देवी के सामने वेदांत के दो-चार पारिभाषिक शब्द फेंककर उसका मुंह बन्द कर दूं, ऐसा मैंने सोचा था। परन्तु वह विचार अब मैंने अपने मन में ही रखा। मैं समझ नहीं पा रहा था कि इतनी छोटी लड़की में इतनी अधिकारपूर्ण वाणी से बोलने की वृत्ति कहां से पैदा हुई।

मैंने कहा, "देवी, तुम जो कह रही हो, ये तुम्हारे अपने ही विचार हैं या कहीं के पढ़े हुए हैं ? कहीं यह तोतारटंत दर्शन तो नहीं है तुम्हारा ?"

"तुम्हारा क्या खयाल है ?" देवी बोली और तिरछी गरदन करके

बांकी निगाह से मेरी ओर देखने लगी। मेरा हृदय बेचैन हो उठा। मैं सारा तत्त्व-ज्ञान भूल गया।

किसी बड़े तत्त्वज्ञानी ने कहा है कि तत्त्वज्ञान का अंत होते ही धर्म की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। तो क्या वही धार्मिक प्रवृत्ति मेरे मन में उत्पन्न हो गई ?

धर्म का क्या अर्थ ? मानवी धर्म ? मानवी धर्म का क्या अर्थ ? मन में उठा यह प्रश्न मेरे मुंह से बाहर निकल पड़ा।

मैंने देवी से कहा, "मानवी धर्म का क्या अर्थ है ?"

"अब तुम प्रश्न पूछने लगे।" देवी उतनी ही मोहक मुद्रा से मेरी ओर देखती हुई बोली, "मेरी बातों से मानवी धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु मैं ही तुमसे पूछती हूं कि मानवी धर्म का क्या अर्थ होता है ? हिन्दू धर्म का क्या अर्थ हैं ? संसार में अनेक धर्म हैं—इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म आदि। इन सब धर्मों के मत भिन्न-भिन्न हैं। इन सब धर्मों ने जो नियम बना दिए हैं वे एक-दूसरे से नहीं मिलते। इसलिए कृष्ण से लेकर ईसा तक के सब पैगम्बरों ने जिन धर्मों का प्रचार किया है उनकी अपेक्षा मानवी धर्म भिन्न है।—क्या यह कहना चाहते हो तुम ?"

"यह मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ।" मैंने, जैसे कोई बड़ा ज्ञानी हूं, इस शान से कहा, "मेरे प्रश्न पर प्रतिप्रश्न करना मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं।"

उतनी ही कोमलता से हंसती हुई देवी बोली, "तुम जितने विद्वान हो उतनी मैं नहीं। अपने काका की सोहबत से दर्शन का जितना ज्ञान तुम्हें प्राप्त हुआ है, उतना मुझे नहीं हुआ। मैं मनुष्य के हृदय से विचार करती हूं। हाड़-मांस का मानव-शरीर, उसमें उत्पन्न होनेवाली मानवी प्रवृत्ति, उस प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होनेवाली आकांक्षाएं, और उन आकांक्षाओं को बन्धन में डालनेवाले आचार-विचार, इस परम्परा का जो झगड़ा होता है, उस झगड़े की दृष्टि से मैं दुनिया को देखती हूं। और फिर मुझे लगता है कि सभी धर्म समान हैं। सभी पैगम्बरों ने एक ही तत्त्व बताया है और वह यह कि मनुष्य ईश्वर का अंश है। उसमें कर्तृत्व-शक्ति है और कर्तृत्व-

शक्ति के प्रति अभिमान रखनेवाला दूसरा मनुष्य यदि बन्धन डालने लगा, तो उन्हें तोड़ डालना चाहिए, ऐसा उस ईश्वरी अंश के कारण ही मनुष्य को लगने लगता है…" इधर-उधर देखकर वह बोली, "अब मुझे जाना चाहिए। घर में सब राह देखते होंगे। आया करो न कभी-कभी, यहां पर, इसी तरह…"

"मतलब?" मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा, "क्या तुम रोज़ ही घूमने आया करोगी?"

उसने एक कहकहा लगाया और बोली, "एक बार प्रयोग करके देखना चाहती हूं। अभी तक तो किसीने मेरा विरोध नहीं किया, परन्तु मेरी इच्छा है कि कोई मेरा विरोध करे, उस विरोध का मैं जवाब दूं। यह देखने के लिए ही कि विरोध का माकूल जवाब देने की ताकत मुझमें है या नहीं, मैंने रोज़ शाम को बिना किसीसे पूछे बाहर घूमने का निश्चय किया है और आज से वह कार्य आरम्भ कर दिया है।"

वह एकदम उठी और चलने लगी। मेरे साथ की प्रतीक्षा न कर, वह सीधी आगे बढ़ गई। यह देख मैं वहीं बैठा रहा।

मुझे शक हुआ। मानवी जीवन पर देवी ने मेरी अपेक्षा भी अधिक विचार किया है!

५

घर आकर देखता हूं तो काका के पास शेषगिरराव डटे हुए थे। पुनः मुझे आश्चर्य का धक्का लगा। शेषगिरराव अधिकांशतः हमारे घर कभी आते नहीं थे। इसका मतलब यह नहीं कि हमारे घर आने के वे किसी तरह खिलाफ थे; परन्तु अपने बड़े परिवार के विस्तार में वे हमेशा ही इतने उलझे रहते थे कि किसीके घर आने-जाने की उन्हें फुरसत

ही न मिलती थी।

हमारे काका का स्वभाव चिड़चिड़ा था। वे अपनी सनक के अधीन थे। जैसी सनक आती उसी तरह उनका वर्ताव रहता था। हमारे घर कोई आता तो कभी-कभी उससे घंटों बातें करते। वही आदमी अगर दूसरी बार आता तो उसकी ओर झांककर भी न देखते थे। इसीलिए शेषगिरराव को आज हमारे घर आया देखकर मुझे आश्चर्य हुआ।

मुझे आया देखते ही काका बोले, "अच्छा हुआ तुम आ गए। इस विषय में हमें कुछ न कुछ ज़रूर करना चाहिए। यदि कथानक किसी दूसरी जगह का होता तो उसके लिए हमें इतना बुरा न लगता; परन्तु उस लेखक ने महाराष्ट्रीय-कर्नाटक का भाग लेकर ही अपनी कथावस्तु लिखी है। इसलिए यदि हम खामोश रहें तो यह कलंक हमारे प्रान्त पर हमेशा के लिए लग जाएगा!"

मैंने पूछा, "आप किस पुस्तक के बारे में कह रहे हैं?"

"अरे वही फालतू उपन्यास जो तुम उस दिन लाए थे। उस पुस्तक के बारे में बड़ी खलबली मच रही है। हर आदमी की ज़बान पर एक ही नाम है—'खिलती कली!' यह कली एक बार पूरी खिल जाती और उसकी पंखुड़ियां गलकर गिर पड़तीं तो हमें फिर कोई कष्ट न होता। लेकिन कली जब खिलती हुई दिखती है तो असंख्य भौंरे उसपर मंडराने लगते हैं..."

यह कल्पना करके कि उन्होंने कोई बड़ा श्लेष किया—नहीं, बल्कि कोई काव्य किया, काका ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगे।

शेषगिरराव बोले, "यह तो अभी तय हो ही चुका है कि शीघ्र ही एक सभा बुलाई जाए और उसमें उस लेखक और उस प्रकाशक की निन्दा और निषेध के प्रस्ताव पारित किए जाएं। आप भाषण देंगे ही। श्रीनिवास भी बोलेगा। हमारी देवी ने भी भाषण देना स्वीकार किया है..."

"देवी भी बोलेगी?" मैंने पूछा, "देवी क्या पुस्तक के खिलाफ बोलेगी?"

"अरे वाह, यह भी कोई सवाल है तुम्हारा?" शेषगिरराव मेज़ पर

ज़ोर से हाथ पटककर बोले, "देवी उस पुस्तक का घोर विरोध करेगी। उस पुस्तक पर सबसे अधिक अगर कोई चिढ़ा है तो वह देवी ही है ; और इसीलिए मुझे उस लड़की पर बड़ा गर्व है। वह इतनी पढ़ी-लिखी है फिर भी अन्य सुशिक्षित लोगों की तरह वह भड़की नहीं है। नवमतवाद से वह अभी कोसों दूर है। अरे भई, हमारे घर में हमने सबको ढंग ही पहले से ऐसा लगा रखा है कि सभीको हमारी भारतीय संस्कृति और भारतीय परम्परा के प्रति ज्वलंत अभिमान है।"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। अभी कुछ समय पहले देवी के मुंह से मैंने जो सुना था, वह कुछ और ही था। उस विषय की चर्चा करके देवी ने उस पुस्तक पर यद्यपि अपना कोई विशिष्ट मत प्रकट नहीं किया था, फिर भी उसने जो प्रश्न उठाए थे उनसे तो यही लगता था कि उस पुस्तक में प्रतिपादित लेखक के मतों का वह पूर्ण समर्थन करती है।

"जहां तक मेरा सवाल है, मैं उस पुस्तक के खिलाफ बोलने के लिए पूरी तरह तैयार हूं।" मैंने कहा, "मैंने उस पुस्तक का पूरा अध्ययन किया है। उसके एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य और एक-एक बात की पूरी धज्जियां उड़ा देने लायक एक से एक सबल प्रमाण मेरे पास मौजूद हैं। यदि प्रत्यक्ष लेखक भी चर्चा करने के लिए मेरे सामने आए तो उसकी भी मैं धज्जियां उड़ा दूंगा। यदि यह न करूं तो मेरा नाम श्रीनिवास ही नहीं।"

"शाबाश !" काका बोले, "देखा, लड़कों को उचित ढंग लगा देने की हमने पहले से ही यदि सावधानी बरती और सिर्फ उचित पुस्तकें ही उन्हें पढ़ने को दीं तो उसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे श्रीनिवास के रूप में आपके सामने हाज़िर है।"

मैंने बड़े ताव से कह तो दिया था, फिर भी मेरा मन मुझपर हंस रहा था। कुछ ही देर पहले देवी के एक ही प्रश्न से निरुत्तर हो जानेवाला मैं इस समय इतना हिम्मतवाला किस आधार पर बन गया कि अपना नाम तक बदल डालने की प्रतिज्ञा कर बैठा, इसका मैं स्वयं ही कोई अनुमान नहीं बांध पा रहा था।

"मुख्य प्रश्न यह है," शेषगिरराव बोले, "कि यह लेखक कौन है? पर जो भी कोई है वह हमारे ही प्रान्त का है इसमें शक नहीं। प्रकाशक बम्बई का है। उसे खत लिखकर उससे लेखक का नाम पूछा था मैंने, पर उस पट्ठे ने कोई जवाब ही नहीं दिया। इस लेखक ने होशियारी यह की है कि अपना कुलनाम नहीं दिया जिससे उसका पता लगना संभव ही न हो। नाम दिख रहा है पुराने ढंग का और कथानक लिखा है हम वैष्णव लोगों का। जब मैंने उस कथानक को बारीकी से पढ़ा तो मुझे ऐसा दिखा कि लेखक को हमारे प्रांत की एक-एक बात का पता है। आपने भी यह महसूस किया होगा कि वह कथानक बिलकुल ही काल्पनिक नहीं है। इस शहर की कुछ घटनाओं की बहुत कुछ बू आती है उस पुस्तक में। धारवाड़-बेलगांव का कोई भी मनुष्य यह कह सकता है कि बहुत-सी चालबाज़ी करके उन्हीं घटनाओं से लेखक ने वह उपन्यास गढ़ा है। इसलिए पहले इस लेखक को खोजकर निकालना चाहिए।"

"लेखक का पता लगते तक यदि हम बैठे रहें," काका बोले, "तो हम कुछ भी न कर सकेंगे। पुस्तक तेज़ी से बिक रही है। जो-जो भी उसे पढ़ते हैं वे-वे उसकी चर्चा कर रहे हैं और जैसे-जैसे लोग उसका विरोध कर रहे हैं वैसे-वैसे वह और अधिक बिकती जा रही है। सबसे पहले हमें विरोध करना चाहिए और बाद में—क्या समझे शेषगिरराव—बाद में सरकार की मदद लेनी चाहिए। कानून में इसके लिए आधार है। अश्लील साहित्य को दबा देने के लिए सरकार की सहायता लिए बगैर काम न होगा। परंतु इससे पहले यह ज़रूरी है कि हर शहर में सभाएं बुलाकर ज़ोरदार शब्दों में उस उपन्यास की निंदा की जाए और उस रूप के प्रस्ताव एकमत से पास किए जाएं। हम जो सभा यहां कर रहे है उसके अध्यक्ष-पद के लिए आपने किसे चुना है?"

हंसते-हंसते शेषगिरराव बोले, "आपको छोड़ हम और किसे चुनेंगे?"

"छि! छि! छि! छि!" काका बोले, "ऐसा करने से काम नहीं चलेगा। यहां चाहे जिसे अध्यक्ष बनाने से काम नहीं चलेगा। मेरा खयाल

है, रामपुरी की रानी साहिबा को इस सभा का अध्यक्ष-पद देना चाहिए। वे भी वैष्णव ही हैं। कट्टर पुराणपंथी हैं। समाज में उनका स्थान बहुत ऊंचा है। उनके भाषण का समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वैसे वे बोलेंगी ही क्या? उनका सारा भाषण तो हमें ही लिखकर उन्हें देना होगा। पर भाषण की रिपोर्ट तैयार करते समय हमें वह अपनी इच्छानुसार ही तैयार करा लेनी होगी। यह सब मैं देख लूंगा। आप आज रानी साहिबा को एक पत्र लिखिए। आप चाहें तो पत्र के लेखक के रूप में मेरा नाम डाल दीजिए, जिससे वे सहज ही अध्यक्षा बनना मंजूर कर लेंगी।"

सभा के विषय की सारी बातें निश्चित हो गईं। सभा कहां होगी, कब बुलाई जाएगी, कौन-कौन सभा में बोलेंगे, क्या प्रस्ताव रखे जाएंगे आदि सब बातें ठीक से तय हो गईं।

मेरे सामने यही एक बड़ा प्रश्न-चिह्न था कि सभा में देवी क्या बोलेगी? एक बार मन में आया कि सुबह उठते ही देवी के घर जाऊं और उससे पूछूं; पर बाद में शाम तक धीरज रखने का निश्चय किया। उसने भी रेसकोर्स पर बुलाया ही था। अगर वहां आई और मिली तो ठीक ही है—अगर न मिली तो जान-बूझकर उससे मुलाकात करने की बात आगे सोचूंगा।

...और अगर उसके घर जाकर भी उससे मिलता तो इससे क्या होना था? शेषगिरराव के घर जाकर देवी से एकान्त में बातें करना संभव नहीं था। उसकी मुलाकात तो रेसकोर्स पर ही होनी चाहिए—बहुत ही होता तो उसके घर जाकर मैं उसे यही कह सकता था कि कल शाम को रेसकोर्स पर ज़रूर मिलना।

मेरे आश्चर्य का एक और भी कारण था। यदि सभा बुलाने की चर्चा दो दिन पहले हो गई थी तो इस विषय में देवी ने मुझसे अभी तक कुछ क्यों नहीं कहा? या कि यह चर्चा हो गई थी इसीलिए मेरे मन का पता लगाने के लिए उसने आज रेसकोर्स पर इस विषय पर बातें की थीं? कुछ भी क्यों न हो, पर देवी को इस विषय में अच्छी तरह छेड़ूंगा, ऐसा मैंने

निश्चय किया।

दूसरे दिन शाम को रेसकोर्स पर गया, पर उस दिन देवी से मुलाकात न हुई। बहुत-से परिचित लोग आते थे, मेरे पास बैठते थे और गप्पें करते थे। सबकी चर्चा का विषय एक ही रहता—'खिलती कली!' देवी मुझे आती हुई दिखाई दी; पर मेरे आसपास बहुत-से लोग थे, इसीलिए शायद वह मेरे पास न आई होगी।

दूसरे दिन घूमने गया। उस समय मैं अकेला ही था, पर देवी के साथ लड़कियों का एक दल था। परसों की तरह ही उन सब लड़कियों ने मुझ-पर धावा बोलना शुरू कर दिया। बेलगांव में यह खबर सर्वत्र फैल गई थी कि 'खिलती कली' का निषेध करने के लिए एक सभा होनेवाली है। इसलिए यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन लड़कियों की चर्चा का विषय वही था।

इन लड़कियों में कालेज जानेवाली लड़कियां थीं; पर सभी वैष्णव नहीं थीं। कुछ कोकणस्थ थीं, कुछ शैणवी थीं, एक-दो जैन भी थीं और एक तो बिलकुल पिछड़ी हुई जाति की थी।

पर आश्चर्य की बात यह थी कि सबके विचार और मत एक थे। हर लड़की कहती थी कि वह पुस्तक बहुत अच्छी है। हर लड़की अनेक प्रश्न पूछकर मेरे मत को जान लेने की कोशिश कर रही थी। परन्तु मैं किसीको भी अपने मन का पता नहीं चलने दे रहा था। अंत में देवी ने मुझसे एक सीधा प्रश्न पूछा। वह बोली, "क्या इस निषेध-सभा में तुम भाग लेनेवाले हो?"

"मैं क्यों नहीं भाग लूंगा? मुझे वह पुस्तक बिलकुल अच्छी नहीं लगी। मैं बिलकुल चिढ़ उठा हूं उस पुस्तक से। उसका लेखक यदि मुझे मिल जाए तो उसे कच्चा ही चबा जाऊंगा, इतना गुस्सा आ रहा है मुझे उसपर। उस बेवकूफ ने अपना पूरा पता क्यों नहीं दिया? क्या हर्ज था यदि वह अपना पूरा पता दे देता तो? इस समय चुप बैठने से काम नहीं चलेगा। अभी कुछ दिन पहले किसी विभावरी शिरूरकर बी० ए०,

या किसने ऐसी ही एक पुस्तक लिखी थी। कोई कहते हैं वह लेखक पुरुष है। जो अपनी पुस्तकों में ऐसी ऊटपटांग और वाहियात बातें लिखते हैं, ऐसे लेखकों को किसी उपनाम से लिखने की आदत ही होती है ...''

"विभावरी शिरूरकर यदि पुरुष है," देवी बोली, "तो 'खिलती कली' का लेखक 'कृष्णाजी बलवंत' कहीं कोई 'कृष्णाबाई' तो न होगी ?''

उसकी इस बात पर मुझे हंसी आई। "तुम पगली हो, देवी !" मैंने कहा, "हमारी स्त्रियां अभी इतनी पागल नहीं हुई हैं।"

"तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है ? तुम अभी जानते ही क्या हो?" अधरों पर उसी तरह की मोहक मुस्कान बिखेरती हुई देवी बोली, "तुम अभी बेलगांव से बाहर ही कहां गए हो ? आज बम्बई-पूना में क्या कम लेखिकाएं हैं ? मेरा तो ख्याल है कि यह पुस्तक जरूर किसी स्त्री ने ही लिखी है। स्त्री के हृदय की इतनी कोमल अभिव्यक्ति पुरुष कर ही नहीं सकता।"

"मतलब ? उस पुस्तक में स्त्री-हृदय की अभिव्यक्ति है !" मैंने कहा, "क्या तुम्हारा यह ख्याल है, देवी ? उपन्यास कोई इतिहास नहीं—ये काव्य हैं। एक चवन्नी की भांग खा ली कि चाहे जितनी कल्पनाएं सूझने लगती हैं ऐसा किसी एक लेखक ने कहा है। इस तरह का कोई नशेबाज़ लेखक कल्पना की उड़ानें भरता हुआ मनमाना लिखता रहे और उसे तुम जैसी समझदार लड़की स्त्री-हृदय की अभिव्यक्ति कहे, तो इससे बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है ? उस पुस्तक के बारे में तुम्हारा यह मत, सच कहता हूं, तुम्हें शोभा नहीं देता ! खैर, इसे छोड़ो अभी। यह बताओ, क्या कल की सभा में तुम भी भाषण देनेवाली हो ?"

"मैं ?" देवी हंसती हुई बोली।

एक क्षण गुज़र गया। उस क्षण मेरे हृदय में कल्पनाओं की असंख्य तरंगें उठ पड़ीं। वह एक क्षण भी मुझे कितना बड़ा लगा ! देवी क्या उत्तर देगी ? 'ना' कहेगी या 'हां' ? और अगर 'हां' कहेगी तो क्या वह 'खिलती कली' के पक्ष में बोलेगी ?

"मैं न ? हां।" देवी बोली, "मैं तो बोलूंगी ही। उस लेखक को खूब ही आड़े हाथ लूंगी। स्त्रियों को ये लेखक आखिर समझते क्या हैं ? हमारी आर्य-कन्याएं कोई वेश्याएं नहीं हैं। उनके वारे में चाहे जैसे विचार और मत प्रकट करना तथा उनपर मनमाने आरोप थोपना तुम पुरुषों का एक ध्येय ही हो बैठा है। हम लोग मूक हैं, हमें वाचा नहीं, अपने विचारों को दुनिया के सामने रखने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं—इसलिए क्या तुम्हें यह उचित है कि तुम हमारे खिलाफ चाहे जैसी ऊल-जलूल बातें बकते रहो···"

"देवी, देवी," मैंने कहा, "स्त्रियों की बदनामी कौन करता है ? क्या हम ?···क्या हमारे जैसे पुराणपंथी ? तुम यह अच्छी तरह याद रखो कि इस हिन्दुस्तान में पुराणपंथी लोगों की ही संख्या अधिक है। मुट्ठी-भर नवमतवादी चाहे जितना 'हुआ', 'हुआ' किया करें, फिर भी हमारी संस्कृति की मज़बूत नींव का एक टुकड़ा भी टूटकर नहीं गिरेगा। अनादि काल से यह संस्कृति चली आ रही है। आज तुम लोग जिनका अनुकरण कर रहे हो, वे पाश्चात्य लोग जिस समय नंगे घूमते थे, उस समय हमारे तत्त्वज्ञान के आगे सारी दुनिया नतमस्तक हो रही थी। हमारी सभ्यता देखकर दांतों तले अंगुली दबा रही थी। हमारे जिस तत्त्वज्ञान से व्यास और पाराशर जैसे ऋषि निर्मित हुए, शुक्राचार्य जैसे जगद्गुरु पैदा हुए, बुद्ध जैसे संसार-विजेता उत्पन्न हुए, चिपलूनकर और तिलक जैसे कर्मवीर हमारी जिस संस्कृति से पैदा हुए, वह संस्कृति किसी नामधारी लेखक को सौ डेढ़ सौ पन्ने की पुस्तक से डगमगा जाएगी, ऐसा यदि कोई सोचता होगा तो यह उसका भ्रम है !"

"चलो, यह भी एक अच्छी बात हो गई," देवी बोली, "मुझे बड़ी चिन्ता हो रही थी, परन्तु तुम जैसे का सहारा मिल जाने पर अब मुझे कोई चिंता नहीं रही। रानी साहिबा आनेवाली हैं, तुम्हारे काका हैं, तुम हो···"

"और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुम भी हो।" मैंने हंसते-हंसते कहा।

"मैं तो हूं ही !" देवी बोली, "और ये मेरी सहेलियां भी हैं।"

"तुम्हारी ये सहेलियां भी ?" मैंने पूछा, "तुम्हारी ये सहेलियां 'खिलती कली' की समर्थक हैं या विरोध में हैं ?"

"कुछ भी रहें," देवी बोली, "वे यदि समर्थन करेंगी तो मेरे विरोध को उतना ही अधिक बल मिलेगा। तुम्हारा समर्थन प्राप्त होने पर ऐसे समर्थकों को हम चुटकियों में उड़ा देंगे। क्या तुम नहीं सोचते ऐसा ?"

"इसकी कोई चर्चा अभी ही क्यों की जाए ?" मैंने कहा, "कल जब सभा होगी तब क्या होगा, वह सब दिख ही जाएगा।"

वह ढीठ लड़की आगे बढ़कर बोली, "तुम जिन-जिन मतों का प्रतिपादन करोगे उन मतों को खंडित करने के लिए हम भी बम्बई से एक विदुषी ला रहे है उस सभा में। देखें, अब यह लड़ाई किस तरह होती है !"

"चलो जी, हम सब चलें अब !" किसी एक लड़की ने कहा और एकदम मुड़कर वे सब देखते-देखते चल दीं।

मैं सिर्फ देखता ही रहा।

क्या सचमुच ये लड़कियां मेरा विरोध करेंगी ? जिस सभा में काका जैसे कानून के पंडित, शेषगिरराव जैसे उच्चकोटि के विद्वान, रानी साहिबा जैसी एक बड़ी हस्ती, ये सब उपस्थित रहेंगे, वहां ये कल की छोकरियां क्या कर सकेंगी ? बड़े-बड़े लोगों के सामने इनका प्रभाव ही क्या पड़ेगा ?

मुझे उनपर दया आ रही थी, पर उनका डर भी लग रहा था—आजकल की ये लड़कियां बहुत भड़क उठी है ! कौन कह सकता है, ये लड़कियां किसकी पोल कब और किस तरह खोल दें ? मैंने मन में निश्चय किया कि चुप रहूं और देखूं कल क्या होता है।



आखिर सभा हुई। बड़े-बड़े व्यक्तियों ने मराठी और कन्नड़ में भाषण दिए। पर श्रोताओं पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा देवी के ही भाषण का।

उसका भाषण इतना सुसंगत, सप्रमाण और विचारपूर्ण हुआ कि उसके भाषण के बाद बड़े-बड़े विद्वान भी श्रोताओं पर अपना कोई प्रभाव न डाल पाए।

मुझे अपने पर ही शर्म आई। मैंने अपना भाषण जान-बूझकर सबके अन्त में रखाया था। उद्देश्य यह था कि सबके भाषणों को सुन लेने के बाद उनमें की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को ही अपने ढंग से कुछ इस तरह कहूंगा कि श्रोताओं को वे नई लगें और फिर सारी सभा पर मैं ही मैं छा जाऊंगा। परन्तु देवी का भाषण सुनने के बाद मेरे इस उद्देश्य पर पानी फिर गया। मेरे सारे इरादे एकदम ठंडे पड़ गए। उसका वह सुन्दर, विस्तृत और ज़ोरदार भाषण सुनकर मुझे लगने लगा कि उसके बाद यदि मेरा भाषण होता तो वह श्रोताओं को बिलकुल ही फीका लगता, यह मैं ईमानदारी से स्वीकार करता हूं।

रानी साहिबा अपना भाषण लिखकर लाई थीं। लिखकर लाने का मतलब यह कि किसी विद्वान ने उनके लिए वह भाषण लिख दिया था। वे उस लेख को लेकर सभा में आई थीं और उसे थोड़ी देर सिर्फ पढ़ने का उन्होंने फार्स किया था। जब वे उसे ठीक से पढ़ भी न सकीं तो स्वास्थ्य ठीक न होने का बहाना कर, सभा छोड़कर बीच ही में चली गईं और उनका शेष भाषण सभा के सामने मुझे ही पढ़कर सुनाना पड़ा। अध्यक्षा के लिए उसी विद्वान ने उपसंहार का भाषण भी लिख दिया था। इस भाषण को तैयार करते समय लेखक ने साधारणतः यह अन्दाज़ लगा लिया था कि वक्ता लोग अपने भाषणों में किन-किन महत्त्वपूर्ण बातों को कहेंगे और अपने उन्हीं अन्दाज़ों को मद्देनज़र रख लेखक ने वह भाषण तैयार किया था। परन्तु लेखक को इसकी कोई पूर्वकल्पना न होने के कारण कि देवी

अपने भाषण में किन-किन नये पहलुओं पर अपने विचार प्रकट करेगी, वह भाषण अधूरा रहा। उसमें देवी का, सिवा इसके कि सभा में वह भी बोली, और अधिक उल्लेख न था।

परन्तु जब अध्यक्षा की ओर से वह भाषण मुझे पढ़ने को दिया गया तो बीच-बीच में मैंने अपनी तरफ से उसमें कुछ ऐसे वाक्य ठूंस दिए जिसके कारण देवी के भाषण की महत्त्वपूर्ण बातों का उसमें उल्लेख हो गया और इतना अच्छा भाषण देने के लिए अध्यक्षा की ओर से उसे हार्दिक बधाई भी दे दी गई।

अध्यक्षा के लिए दोनों भाषण काका ने ही लिख दिए थे। अध्यक्षा का उपसंहार का भाषण सुनते समय काका को पता चल गया था कि उस भाषण में बीच-बीच में मैं अपनी तरफ से भी कुछ वाक्यों को जोड़ रहा हू जो बिलकुल उचित और आवश्यक थे। वे मुझपर बड़े खुश हुए और उन्होंने मुझे शाबाशी दी।

काका ने सभा बुलाने से पहले ही नगर के समाचारपत्रों के सम्पादकों से सम्पर्क स्थापित कर सभा की पूरी रिपोर्ट के प्रकाशन का प्रबन्ध कर लिया था। इसलिए सभा की हमने जो रिपोर्ट लिखी थी उसे सभी संपादकों ने पहले ही पृष्ठ पर, मोटे-मोटे अक्षरों में शीर्षक देकर, ज्यों की त्यों पूरा छाप दिया था। कुछ समाचारपत्रों ने हमारी रिपोर्ट पर टीका-टिप्पणी करते हुए सम्पादकीय भी लिखे थे। कुछ पत्रों ने हमारी सभा का निषेध भी किया था। पर कुल मिलाकर ऐसे समाचारपत्रों ने जो मराठी भाषा में उन दिनों प्रमुख गिने जाते थे, हमारे इस आन्दोलन का स्वागत ही किया था और सभा के संचालकों की प्रशंसा की थी।

मुझे अलबत्ता एक बात बहुत बेचैन कर रही थी। वह बात एक प्रश्न-चिह्न बनकर, मेरे सामने पहेली के रूप में खड़ी हो गई थी। कल एकान्त में मुझसे बातें करते समय देवी ने उस पुस्तक के बारे में कुछ दूसरी ही बातें की थीं और भाषण में उसने अपने कुछ दूसरे ही मत अभिव्यक्त किए थे। यह कैसे हुआ? बातें करीब-करीब वही थीं। परन्तु उनके उत्तर उसने

इतनी समुचित रीति से दिए थे कि उन्हें सुनकर मैं शरमा गया।

जिसके एक भी प्रश्न का उत्तर मैं नहीं दे सका था, वह एक मैट्रिक पास छोटी लड़की सभा में सारे श्रोताओं पर अपना सिक्का जमा सकती है, यह देखकर लोगों ने उसकी प्रशंसा करने के बदले अपना यही मत प्रकट किया कि उसका भाषण दूसरे ने उसके लिए लिख दिया होगा और उसे मुखाग्र याद करके उसने वह सभा में कह दिया। यदि यही बात कोई आकर काका से कहता तो वे भी इतना संदिग्ध उत्तर देते कि शक करनेवाले को यही लगता कि उसका शक बिलकुल ठीक है।

पर मुझे ऐसा कोई शक न था और इसलिए मैं ज़ोरदार शब्दों में प्रतिपादन करके जब देवी की तरफदारी करता तो उस समय काका उस बात को कुछ ऐसे अजीब ढंग से हंसी पर ले जाते कि यह समझकर कि उनका समाधान हो गया, देवी की तरफदारी करने के लिए मुझपर तरस खाकर चल देते थे।

मेरी हिम्मत न थी कि काका के खिलाफ कुछ कहता। मैं देख रहा था कि काका लोगों की इस गलतफहमी को प्रस्थापित करने में भाग ले रहे थे। पर उन्हें रोकता किस तरह—वह साहस मुझमें था ही नहीं!

मैं चुप्पी साधकर बैठ गया। देवी पर हो रहे इस आरोप का निराकरण करने के लिए स्वयं उसने कोई प्रयत्न न किया। जब उसका ध्यान इस आरोप पर आकृष्ट किया जाता तो वह कहती, "लोग अगर कहते हैं कि काका साहब ने मेरा भाषण तैयार किया, तो कहने दो। मुझे इसका कोई बुरा नहीं लगता। पर कम से कम यह तो उन्हें कहना ही पड़ेगा कि उस भाषण में मैंने कितनी उत्तमता से रंग भरा। क्या मैंने वह इस तरह नहीं दिया जैसे वह मेरा खुद का ही हो? क्या इसमें मेरी कुशलता नहीं; और क्या लोगों को कम से कम मेरी इस कुशलता के लिए ही मुझे शाबाशी नहीं देनी चाहिए?"

देवी की इस लीपापोती पर मुझे बड़ा गुस्सा आया। उसने अपना भाषण बड़े परिश्रम से तैयार किया था। इसके बावजूद लोगों की इस गलतफहमी को

इस तरह प्रोत्साहन देने की उसे क्या ज़रूरत ? जब मैंने उससे पूछा तो वह बोली, "मैं लाख कसमें खाकर लोगों से कहूं कि वह भाषण मेरे ही दिल और दिमाग की उपज था, फिर भी कोई मुझपर विश्वास नहीं करेगा। इसलिए अकारण ही मैं अपने को व्यर्थ कोई कष्ट क्यों दूं ? लड़कियों में अपनी कोई बुद्धि नहीं होती, वे कुछ नहीं समझतीं, वे कोई पौरुष नहीं कर सकतीं, यह धारणा आजकल लोगों के दिलों में इतनी दृढ़ जमी हुई है कि उसे जाने के लिए अभी कुछ सदियां और गुज़रनी चाहिए।

इस सभा के बाद और भी सभाएं हुई। हमारी देखा-देखी दूसरे शहरों में भी ऐसी सभाएं होने लगीं और उनमें भी वही प्रस्ताव पास होने लगे जो हमारी सभा में पास हुए थे। अखबारों में बहुत दिनों तक यह खलबली मची हुई थी।

परन्तु पुस्तक का लेखक 'कृष्णाजी बलवंत' कौन है, इसका अलबत्ता किसीको भी पता न चला। लेखक का असली नाम जानने के लिए हर व्यक्ति प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर रहा था। पर उस पुस्तक का प्रकाशक ऐसा नंबरी था कि लांच देने का लालच दिखाने पर भी वह लेखक का असली नाम प्रकट नहीं करता था। यह देखकर कि ये प्रकाशक लोग इतने पक्के होते हैं, हम सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ।

धीरे-धीरे यह बात सबकी स्मृति से जाने लगी। कभी किसी दिन चर्चा होती भी तो उसमें पहले का ज़ोर और जोश न रहता था। मैं वह पुस्तक बीच-बीच में पढ़ा करता था। जैसे-जैसे मैं उसका अध्ययन अधिक करने लगा, वैसे-वैसे उसके लेखक के प्रति मेरी सहानुभूति अधिक बढ़ने लगी।

मुझे लगने लगा कि मैं ही कहीं भूल कर रहा हूं।

मेरे मन में आता कि इस पुस्तक के बारेमें देवी से एक बार चर्चा करूं। परन्तु उसके भाषण की याद आते ही मेरा यह विचार मन ही मन में ठंडा पड़ जाता। उसने भी इस विषय की कोई चर्चा नहीं की।

इसी तरह कुछ दिन और बीते। काका को लगने लगा कि कुछ दिनों में यह आन्दोलन ठंडा पड़ जाएगा। परन्तु वे नहीं चाहते थे कि आन्दोलन

बन्द हो जाए। दूसरे लेखक भी 'खिलती कली' जैसे उपन्यास लिखने लगे थे। परन्तु उन उपन्यासों के खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए सभा आयोजित करने की बात किसीके भी दिमाग में नहीं आई। क्योंकि 'खिलती कली' उपन्यास जिस कौशल और सहृदयता से लिखा गया था वह कौशल और सहृदयता इन अनुकरण करनेवाले लेखकों में नहीं थी।

परन्तु काका को इतनी ही बात से सन्तोष न था। शेषगिरराव और काका इस विषय पर रोज़ चर्चा किया करते। पहले कभी-कभार ही आनेवाले शेषगिरराव हमारे घर अब रोज़ आते और काका से गप्पें किया करते थे। उनकी ये गप्पें घण्टों चला करतीं। कभी-कभी तो रात को खाना खाने के बाद भी वे गप्पें फिर शुरू कर दी जातीं।

एक दिन दोनों ने मिलकर यह निश्चय किया कि पुराणपंथी लोगों के विचार जनता-जनार्दन तक पहुंचाने के लिए एक अखबार निकाला जाए। शेषगिरराव की राय थी कि उस अखबार के सम्पादन की ज़िम्मेदारी काका लें। परन्तु काका को उनकी राय जंची नहीं। वे बोले, "कानून बड़ा लचीला होता है। अखबार में किस समय कैसा लेख प्रकाशित हो जाए और मैं अकारण ही कानून के शिकंजे में फंस जाऊं। इसका नतीजा सिर्फ यही होगा कि इतने साल परिश्रम से प्राप्त की अपनी पेंशन से मुझे हाथ धोना पड़ेगा। मैं यह सोचता हूं कि श्रीनिवास को सम्पादक बना दिया जाए। लिखने की उसे रुचि भी है। फिर मैं हूं ही उसे मदद देने के लिए। दूसरे प्रसिद्ध लेखकों का भी हम सहयोग प्राप्त करने की कोशिश करेंगे।"

इस प्रबन्ध के लिए मैं बम्बई जाऊं, ऐसा सबने निश्चित किया। अखबार के लिए अपना निजी छापाखाना खोलने की बात तय हुई और छापेखाने की सारी जानकारी प्राप्त की गई। तय यह हुआ कि मैं बम्बई जाऊं और वहां से एक छापाखाना खरीदकर लाऊं। कागज आदि का भी इतज़ाम करना था। पूना और बम्बई के अन्य लेखकों से मिलना भी था।

एक दिन मैं बम्बई चल दिया।

जब से बम्बई आया था तब से सारा समय काम में ही बीतता था।

सेण्कड हैंड मशीनों की वहां कमी न थी। जहां जाता था वहीं हरएक यही कहता था कि उसकी मशीन सबसे अच्छी है और मैं उसीको खरीदने के लालच में आ जाता था। लेकिन इसी समय कोई दूसरा आ जाता और उस मशीन के दोष मुझे दिखाने लगता और इसलिए जो सौदा मैं पहले तय करलेता वह मुझे तोड़ देना पड़ता। इस गड़बड़ी में मेरे बहुत दिन बीत गए।

एक दिन मेरे मन में आया कि जाकर 'खिलती कली' के प्रकाशक से मिलूं। इस विचार के मन में आते ही मैं सीधा उसके यहां चल पड़ा।

बम्बई का वह एक प्रसिद्ध प्रकाशक था। उसका निजी छापाखाना था और उसके छापेखाने में भी एक सेकण्ड हैंड मशीन मिलने की संभावना थी। मैंने पहले सेकंड हैंड मशीन के बारे में बातें करके उससे परिचय कर लिया। मशीन देखते ही मुझे लगा कि शायद यह सौदा तय हो जाएगा।

मैंने उससे कोई बात छिपाकर नहीं रखी। किस उद्देश्य से हम छापा-खाना शुरू कर रहे हैं, यह जिस समय मैंने उसे बताया उस समय वह बोला, "आप जैसे मनुष्य की ही मुझे बड़ी ज़रूरत है। 'खिलती कली' के लेखक का दूसरा उपन्यास प्रकाशन के लिए मेरे पास आया है। इसी समय यदि आपका अखबार भी शुरू होगा तो उसके माध्यम से उस उपन्यास का काफी विज्ञापन होगा और इसीलिए अपने पास की इस मशीन को मैं जितना संभव होगा उतने कम दामों में आपको बेच दूंगा।"

उसके इन उद्‌गारों को सुनकर मैं दंग ही रह गया। क्या प्रचार में भी ऐसा व्यवहार होता रहता है या कि प्रचार के नाम पर ये लोग प्रचार का व्यापार करते रहते हैं?

मैंने उससे पूछा, "मेरी बड़ी इच्छा है कि 'खिलती कली' के लेखक से मेरा परिचय हो जाए। आप उसका असली नाम नहीं बताना चाहते यह मैं जानता हूं, पर कम से कम इतना तो आप बता सकेंगे कि वह किस प्रान्त का निवासी है? जिस मनुष्य को बेलगांव और धारवाड़ की इतनी सूक्ष्म जानकारी है वह मनुष्य कौन है, यह जानने के लिए यद्यपि मैं बहुत उत्सुक

हो उठा हूं फिर भी मैं जानता हूं कि आप असली नाम मुझे हरगिज़ नहीं बताएंगे। पर यदि आप सिर्फ इतना ही बता दें कि वह किस प्रान्त का है, तो इतने से ही मुझे संतोष हो जाएगा।"

प्रकाशक हंस पड़ा और बोला, "आप ठीक कहते हैं। वे महाशय कहां के हैं यह बताने की भी उन्होंने हमें अनुमति नहीं दी। जब उचित समय आएगा, उस समय उनका नाम आप ही आप सारी दुनिया को मालूम हो जाएगा। पर तब तक मुझे प्रकाशक के 'ऐटीकेट' का पालन करना होगा। वे महाशय किस प्रांत के हैं यह भी मैं आपको नहीं बता सकता। फिर भी मैं आपको थोड़ा मज़ा दिखा सकता हूं···" ऐसा कहकर वह रुका और बहुत देर तक सिर खुजाकर विचार करने लगा।

मेरे मन में यह आशा उत्पन्न हुई कि अब मुझे ज़रूर कुछ न कुछ पता लगेगा उस लेखक का।

वह बोला, "जो होना हो सो हो जाने दो, आपको नाम तो नहीं बताता; पर इस पुस्तक का व्यवहार उस लेखक की जिस बहन के ज़रिये होता है, वह बम्बई में ही रहती है। कल ही वह मेरे पास आनेवाली है। कल आप सुबह ठीक दस बजे अगर यहां आएं तो उसे आप देख सकेंगे और उस वक्त यदि आप कोई अनुमान बांध सकते हों तो देखिए।"

मेरे आनन्द की सीमा न रही। मैं अपने प्रांत के सारे महाशयों की बहनों को पहचानता था। कौन किसका भाई है, किसका कौन काका है, किसका कौन दामाद है, इसकी सूची मेरे पास तैयार थी। वह स्त्री अगर मेरे प्रांत की होगी तो उसे देखकर मैं सहज ही अनुमान बांध सकूंगा, इस आशा से मैं दूसरे दिन के सवेरे के दस बजे की प्रतीक्षा कर रहा था।

जैसाकि तय हुआ था, दूसरे दिन सवेरे मैं छापेखाने पहुंचा। कुछ देर तक मुझे बाट जोहते हुए बाहर ही बैठना पड़ा।

मेरे वहां पहुंचने के कोई पन्द्रह मिनट बाद एक स्त्री जिस समय प्रकाशक के कमरे से बाहर निकली तो उसे देखते ही मैं दंग रह गया।

उसका चेहरा हूबहू देवी जैसा दिख रहा था। पर जब उसकी वेश-

भूषा की ओर मेरी दृष्टि गई तो ऐसा नहीं लग रहा था वह देवी होगी।

इसके बावजूद अनजाने मेरे मुंह से निकल पड़ा, "देवी!" पर मेरी इस पुकार को अनसुनी करके वह स्त्री आगे बढ़ गई।

मैं भी तेज़ी से आगे बढ़ा और उसे नमस्ते करके उसे रोक लिया। मैंने पूछा, "क्या आप बेलगांव की ही हैं?"

वह औरत इतनी विलक्षण नज़र से मेरी ओर देखने लगी कि मैं शर्म से अधमरा हो गया।

"शटअप!" वह बोली, "आप 'मैनर्स' भी जानते हैं या नहीं? मैंने अभी तक सिर्फ सुना था कि बेलगांव के लोग बड़े गंवार होते हैं, पर उसका मुझे आज प्रत्यक्ष अनुभव भी हो गया।"

उसकी आवाज़ हूबहू देवी जैसी थी। यदि मुझसे कोई कहता कि दो मनुष्यों में इतनी समानता है, तो मुझे वह कभी सच भी न लगता।

कुछ न बोल वह चल दी। मैं सिर्फ देखता रहा।

मेरी पीठ को किसीने थपथपाया। मैं चौंक पड़ा; और जब पीछे मुड़कर देखा तो प्रकाशक महाशय पीछे खड़े थे।

वे बोले, "देख लिया आपने? यही है उस लेखक की बहन। सारा व्यवहार इसके ज़रिये चलता है। लेखक गोरा है या काला है, यह अभी तक मैंने भी नहीं देखा।"

मैं बड़े असमंजस में पड़ गया।

७

मैं जब अपने होटल लौटा तो शेषगिरराव वहां आए थे और मेरी राह देख रहे थे। देवी अचानक बीमार हो गई थी, इसलिए डाक्टर को दिखाने के लिए वे उसे अपने साथ बम्बई लाए थे और माधवाश्रम में ठहरे थे।

मुझे पुनः शक हुआ—मैंने अभी-अभी जिसे छापेखाने में देखा वह कहीं सचमुच देवी ही तो नहीं थी ? परन्तु मैंने जिस स्त्री को देखा था उसका लिबास असली बम्बइया था। उसकी वह पांच गज़ी साड़ी, उसकी वह नये फैशन की केश-रचना, उसका वह भड़कीला ब्लाउज़, पीठ पर नागिन की तरह लहराती हुई उसकी वेणी—इस प्रकार की वेश-भूषा में देवी आई है, ऐसा यदि कोई आकर मुझसे कहता भी, फिर भी मैं इसे कभी सच न मानता।

पर दोनों में समानता विलक्षण थी, इसमें अलबत्ता कोई शक नहीं। यह तो शायद एक संयोग था कि देवी भी इसी समय बम्बई आ गई थी और इसलिए मेरे शक को व्यर्थ ही बढ़ावा मिला। बस, यही बात थी।

शेषराव बोले, "वहां के डाक्टर को शक था कि देवी को अपेण्डिसाईटस है। परन्तु यहां के डाक्टर ने जांच की और 'एक्सरे' आदि लिया तो विश्वास हो गया कि अपेण्डिसाईटस नहीं है। उसने एक मामूली प्रिसक्रिपशन लिख दिया है। वह इलाज बेलगांव में भी हो सकता है। डाक्टर ने जब विश्वास-पूर्वक कह दिया कि अपेण्डिसाईटस नहीं है तब कहीं मेरा जी ठंडा हुआ, वरना मुझपर क्या गुज़रती, इस भय से ही मैं अधमरा-सा हो गया था।"

मैंने पूछा, "देवी कहां है?"

"माधवाश्रम में है। कल उसे डाक्टर के पास ले गया था। बस उतने ही समय के लिए वह होटल से बाहर गई थी। अब बिलकुल बिस्तर पर ही पड़े रहने को डाक्टर ने उससे कह दिया है। इसलिए इस समय वह मेरे साथ यहां नहीं आई; वरना उसका मन यहां आने को बहुत कर रहा था। तुम बेलगांव कब जा रहे हो ?"

"छापेखाने का प्रबन्ध करीब-करीब हो ही गया है। अगर आप आज यहां ठहर रहे हों तो हम दोनों ही शाम को छापेखाने चलेंगे, जिससे वह मशीन आप भी देख लेंगे..."

"मैं मशीन के बारे में क्या जानूं ? पर तुम्हारी इच्छा ही हो तो मैं चलूंगा तुम्हारे साथ। छापाख़ाना कैसा होता है, यह भी मुझे देखना है।

तुम्हें अगर फ़ुरसत मिली तो तुम माधवाश्रम आ जाना। हमारे कमरे का नम्बर बयालीस है। नीचे मैनेजर से पूछोगे, तो वह बता देगा।"

शेषगिरराव के जाने के बाद मैं सोचने लगा—हम बेलगांव-निवासी क्या सचमुच ही गंवार हैं? उस छोकरी ने मुझे एकदम गंवार कहकर मेरी बेइज्जती क्यों की? मुझे उस वक्त कोई जवाब क्यों नहीं सूझा?—इस विचार से मुझे अपने पर ही क्रोध हो आया और बड़ा बुरा भी लगा।

उसी वक्त मुझे एक अच्छा मुंहतोड़ जवाब दे देना चाहिए था—पर मैंने वह क्यों नहीं दिया? मैं चौंका क्यों? घबरा क्यों गया? क्या मैं इस डर से चुप रहा कि एक तो वह पहले ही मुझे गंवार कहती है और अगर मैं कोई ऊटपटांग जवाब दे मारता तो इन बम्बईवालियों के मन में मेरे बारे में और अधिक गलतफहमी हो जाती?

अपने इस प्रश्न का उत्तर स्वयं मैं ही नहीं दे पा रहा था। एक छोटा-सा शक मन को छू गया। उस लड़की को अच्छा मुंहतोड़ जवाब दूं, यह विचार उस समय मेरे मन में आया था क्या?…नहीं! मैं उसकी ओर सिर्फ देख रहा था। क्यों देख रहा था? क्या इसलिए कि वह बुरी दिख रही थी? या कि उस लिबास में वह सुन्दर लग रही थी? शायद दोनों ही कारणों से मेरी नज़र उसपर गड़ गई थी और उस समय के लिए मैं अपने-आपको शायद भूल गया था।

कपड़े पहनकर मैं बाहर जाने के लिए निकल रहा था कि जाते-जाते महज मैंने आइने में देखा।

मुझे लगा, यहां के लोगों की तुलना में मैं गंवार दिख रहा था; इसमें शक नहीं। पहला विचार जो इस समय मेरे मन में आया वह यह कि मुझे अपना यह लाल साफा फेंक देना चाहिए। कोट और शर्ट अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। मैंने नीचे धोती की ओर देखा। बेलगांव की लाल रंग की मुरमी छटा धोती पर झलक रही थी।

तुरन्त बाहर निकला और एक टोपी खरीदी। नई धोती खरीदी। रेडी-मेड कपड़ों की दूकान में गया और आधे दर्जन शर्ट खरीदे। कोट भी

खरीदनेवाला था, पर मेरे बदन के माप का कोट उस दूकान में नहीं था। आर्डर देकर नया बनवाने के लिए उतना समय नहीं था। इसलिए जो कोट बदन पर था उसीसे काम चलाऊंगा, यह निश्चय किया।

जैसाकि तय हुआ था दूसरे दिन शेषगिरराव आए और हम दोनों ही छापेखाने गए।

प्रकाशक ने हमें सारा छापाखाना दिखाया। उन विशालकाय यन्त्रों को देखकर शेषगिरराव तो दंग हो ही गए थे, पर मुझपर भी उन यन्त्रों का प्रभाव पड़े बिना न रहा। एक-एक यन्त्र पर एकबारगी ही बत्तीस-बत्तीस पृष्ठ छपते थे। छपाई इतनी धड़ल्ले से होती होगी, इसकी मुझे पहले कोई कल्पना न थी। हमने एक दूसरा यन्त्र देखा। उसका नाम था रोटरी मशीन। उसमें कागज़ों के अनेक गट्ठे आप ही आप छपकर समाचारपत्र के पुलिन्दे के पुलिन्दे बाहर निकलकर गिर रहे थे।

मैंने अपनी मशीन की तरफ देखा। सोचा, इतनी छोटी-सी मशीन ले जाकर बेलगांव में छापाखाना खोलकर इतने बड़े छापेखाने से हम कैसे टक्कर लेंगे? शेषगिरराव बिलकुल चकित हो गए थे। वे धीरे से मुझसे बोले, "मेरा ख्याल है, छापाखाना खोलकर उसमें अखबार छापने का विचार हमें छोड़ देना चाहिए। इन विशाल मशीनों और इन बड़े-बड़े अखबारों के सामने हम कैसे टिक सकेंगे?"

मेरे ही मन का विचार उनके भी मन में उठा, यह देख मुझे थोड़ा मज़ा आया। मैंने कहा, "अखबार जब बाहर आता है तो पढ़नेवाला यह नहीं देखता कि वह कितने बड़े छानेखाने में छपा है। यह प्रश्न मशीन का नहीं, प्रश्न है अखबार में छपे लेखों का। लेख जब तक प्रभावशाली रहेंगे, तब तक मशीन की लम्बाई और चौड़ाई की परवाह करने का कोई कारण नहीं। हमने जो एक बार तय कर लिया है उसीपर हमें अड़े रहना चाहिए। अगर पीछे हट गए तो हमारी अप्रतिष्ठा होगी।"

प्रकाशक हमें लेकर जिस समय आफिस में पहुंचा, उस समय कल की वह स्त्री वहां पहले से ही आकर बैठी थी। उसे देखते ही शेषगिरराव भी

चकित हो गए। देवी के और उस स्त्री के चेहरों की समानता उनके भी ध्यान में आई। यह देख उनके कानों से मुंह लगाकर मैंने पूछा :

"कैसी दिखती हैं यह ?"

"हूबहू हमारी देवी के समान। सिर्फ लिबास दूसरा है।"

उस स्त्री ने हमारी तरफ झांककर भी न देखा। प्रकाशक ने उसे थोड़ी देर ठहरने के लिए कहा और वह हमसे बातें करने लगा। लेन-देन की सारी बातें निश्चित हो जाने पर, कीमत वगैरह तय हुई और प्रकाशक ने यह मंजूर किया कि वह अपना एक आदमी मशीन के साथ भेजेगा जो मशीन जमा देगा।

इसी समय चाय आई। जाने मुझे क्या सनक आई, छोकरे के हाथ से चाय के प्याले लेकर मैं ही उन सबको देने लगा। एक प्याला लेकर जिस समय मैं उस स्त्री के सामने गया, उस समय आंखें उठाकर उसने मेरी ओर देखा।

मेरी ओर देखते ही वह हंस पड़ी। मैं भी हंस पड़ा।

उसने शेषगिरराव की ओर निगाह फेंकी। शेषगिरराव यद्यपि चाय .ी रहे थे, पर उनकी नज़र उसीकी ओर थी।

मैंने कहा, "आपसे यह किसने कहा था कि बेलगांव के लोग गंवार होते हैं ?"

"आप ही ने !" वह बोली, "चूंकि कल मैंने वैसा कहा था इसीलिए तो आज आप कपड़े बदलकर आए हैं ! है न ?"

"मतलब ?" शेषगिरराव बोले, "क्या इस लड़की ने तुमसे यह कहा था कि बेलगांव के लोग गंवार होते हैं ? कब कहा था ?"

"कल।" मैंने उत्तर दिया, "कल यहीं मेरी इनसे मुलाकात हुई···हम गंवार हों चाहे न हों, पर बम्बई के फैशन से हम परिचित नहीं। फैशनेबल मनुष्य का बाहरी दिखावा जिस तरह बनावटी होता है, उसी तरह उसका अन्तरंग भी होता है। इन्होंने जब मुझसे कहा कि बेलगांव के लोग गंवार होते हैं, उस समय यह विचार मेरे दिमाग में न आया था।"

"सच है।" वह बोली, "हमारा यह शहरी जीवन एक ढोंग होता है। हमारे दिखाने के दांत दूसरे होते हैं और खाने के दूसरे होते हैं। घर में खाने को अनाज का चाहे एक दाना भी न हो, पर चमकदार साड़ियां, भड़कीले ब्लाउज़ और सुनहरी चप्पलें पहने बिना हम घरसे बाहर ही नहीं निकल सकतीं। पर देखनेवाले को यह कहां मालूम रहता है कि अपनी इस सारी साज-सज्जा का बिल हमने चुका दिया है या नहीं···"

उसके ये उद्गार सुनकर मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। यूं दिल खोलकर वह बातें करेगी, ऐसा मैंने नहीं सोचा था। एक मगरूर छोकरी की नज़र से ही मैं उसे देखता था। ऊपरी तौर से दिखनेवाली उस अकड़ की चद्दर के तले क्या एक अलग ही प्रकार का हृदय वास्तव्य कर रहा है? मुझे शक हुआ।

"यदि आपसे आपका नाम पूछूं तो आप नाराज़ तो न होंगी?" मैंने थोड़ी देर ठहरकर पूछा।

"आपको मेरे नाम से क्या वास्ता? मैं यहां आती हूं अपने काम से और वह काम भी मेरा खुद का नहीं, दूसरे का है।"

"यह मैं जानता हूं।" मैंने कहा, "क्या आपके भाई से भेंट हो सकती है?"

"बेलगांव में आप लोगों ने जो सभा भराई थी, उसका वर्णन मैंने पढ़ा है।"

"क्या पूरा वर्णन पढ़ा है आपने? उसमें जिन वक्ताओं ने भाषण दिए थे, उनमें जो श्रीनिवास देशपांडे थे, वह मैं ही हूं···"

"और वह स्त्री कौन थी? देवी कलादगी या ऐसा ही कुछ नाम था उसका···"

"कलादगी नहीं," मैंने कहा, 'देवी कलघटगी। वह भी आजकल यहीं है। यदि आप उससे मिलना चाहती हों तो चलिए मेरे साथ। मैं उससे आपकी मुलाकात करा दूंगा।"

"मुझे क्या ज़रूरत उससे मिलने की?" वह गरदन लचकाकर बोली।

"इसका एक कारण है।" मैंने कहा, "उसके और आपके चेहरे में इतना साम्य है कि उसे देखकर आपको यही शक होगा कि आप कहीं आइने में तो नहीं देख रही हैं।"

"ऐसा ?" वह भौंहें चढ़ाकर बोली, "क्या इतना साम्य है ?···" ऐसा कहते हुए वह हंस पड़ी। उस हास्य को देख मेरा कलेजा पानी-पानी हो गया। मुझे लगा जैसे देवी ही मेरे सामने हंस रही है।

"तुम लोगों के यहां भी ये कैसे अजीब नाम रखे जाते है, जी ? बंगाली लोग नाम के बाद 'देवी' लगाते हैं, जैसे, सन्ध्यादेवी। परन्तु तुम लोगों के यहां प्रत्यक्ष देवी ही नाम रखा जाता है, यह मुझे अभी तक मालूम नहीं था।"

"आप अपने भाई साहब से मेरी मुलाकात करा देंगी क्या ?" मैंने फिर धीरे से प्रश्न किया।

वह पुनः हंस पड़ी। पुनः मेरा कलेजा पानी हो गया। उसकी वह हंसी और देवी की हंसी दोनों में बिलकुल समानता थी—उस हास्य से यह हास्य कितना ही गुना अधिक मनोहारी था। उसका वह हास्य, ऐनक के कांच की ओट से तिरछी नज़र से देखना, भौंहे उठाना—उसकी वह प्रत्येक हलचल मुझे बिलकुल अपरिचित थी, और चूंकि अपरिचित थी इसीलिए उस प्रत्येक हलचल को देखते हुए मेरा हृदय बेचैन हो रहा था।

"मेरे भाई से आपकी मुलाकात नहीं हो सकती। यह संभव ही नहीं है।" वह बोली, "ही विशेज़ टु रिमेन ए ग्रेट अननोन ! उसका दूसरा उपन्यास लेकर आई हूं मैं। यदि उसे आप पढ़ेंगे तो आपको उस तरह की सौ सभाएं आयोजित करनी पड़ेंगी···"

वह पुनः हंसी और एकदम उठकर बोली, "माफ कीजिए, मुझे अब जाना चाहिए।"

नमस्कार करके हम बाहर निकले।

"कैसी विलक्षण समानता है ?" शेषगिरराव बोले, "यदि उस भड़कीले लिबास को अलग कर दे, तो हूबहू देवी ही मालूम होती है वह। दुनिया में भी क्या-क्या चमत्कार हैं !"

हम दोनों कुछ चीजें खरीदने के लिए क्राफर्ड मार्केट की ओर मुड़े।

बाजार करके जब हम माधवाश्रम लौटे, उस समय देवी से मेरी भेंट हुई। चद्दर ओढ़े वह बिस्तर पर पड़ी थी। हमें देखते ही जब वह उठने लगी तो शेषगिरराव ने ज़बरदस्ती उसे फिर लिटा दिया।

मेरे मन को जो थोड़ा-सा शक छू गया था वह देवी की रुग्णावस्था देखकर मेरे मन से साफ गायब हो गया।

८

उस दिन मैं भोजन करने माधवाश्रम में ही रह गया था। देवी के बीमार होने के कारण हमारे भोजन का प्रबंध हमारे कमरे में ही कर दिया गया था।

शेषगिरराव भोजन करने के लिए नीचे डाइनिंग हाल में जाने को पहले से ही बड़े नाराज़ थे। वे बोले, "ये बम्बई के लोग आखिर जीते कैसे हैं, इसीपर मुझे आश्चर्य होता है। वैसे मैं बम्बई बहुत ही कम आता हूं; पर जब भी आता हूं और इन होटलों की भोजन-व्यवस्था को देखता हूं, तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अजी, बाहर से लोग जूते पहने सीधे भीतर चले आते हैं और कोट-पतलून डाटे ही एकदम खाने पर बैठ जाते हैं। इस तरह पंगत लगातार जारी रहती है। यह तो गनीमत है कि यह कोई नहीं पूछता कि उसकी बगल में बैठा मनुष्य कौन है और किस जाति का है। जो लोग कपड़े उतारकर और सोला पहनकर भोजन करते हैं, उनके लिए भी यहां प्रबंध है। पहले मैं उसी पंगत में सम्मिलित होता था। पर जब सोला पहनकर कोई वहां बैठता है तो ये सूटेड-बूटेड लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। इस खिल्ली से मैं भी न बच पाया था। जब मैंने यहां का यह रवैया देखा तो तय किया कि इससे अधिक बेहतर तो यही होगा कि सोला पहनकर मैं

अपने कमरे में ही भोजन करूं। इसलिए आश्रम के मालिक से प्रार्थना करके मैंने अपने लिए यह विशेष प्रबंध करा लिया है।"

देवी की भूख बहुत कम हो गई थी। उससे अन्न खाया नहीं जाता था। उसके लिए डाक्टर की हिदायत के अनुसार पथ्य की अलग व्यवस्था की गई थी। इसलिए वह हमारी पंगत में नहीं बैठी। मेरे सामने सवाल था कि भोजन पर कैसे बैठूं, क्योंकि मेरा सोला एम्पायर होटल में रह गया था। शेषगिरराव ने माधवाश्रम के मालिक से जब मेरे लिए एक सोले का प्रबंध कर देने को कहा, तो वह कोई प्रबंध न कर सका। इसलिए फिर मुझे ही एम्पायर होटल जाकर अपना सोला लाना पड़ा।

सिर्फ सोले के लिए मेरी इतनी दौड़-धूप देख आश्रम का मालिक आश्चर्यचकित हुए बिना न रहा।

बातचीत के सिलसिले में जब मैंने देवी से छापेखाने का सारा हाल सुनाया तो उसे भी बड़ा आश्चर्य हुआ। चकित होकर वह बोली, "मेरा स्वास्थ्य यदि ठीक होता तो जान-बूझकर तुम्हारे साथ चलती और कम से कम मैं भी देख लेती उस स्त्री को जिसका नाक-नक्शा हूबहू मेरे नाक-नक्शे की तरह तुम बता रहे हो। दो चेहरों में थोड़ी-बहुत समानता हो सकती है। यह कोई असम्भव बात नहीं। पर दो चेहरे हूबहू एक समान हो सकते हैं क्या, यही सवाल है।"

"हूबहू, याने क्या—बिलकुल हूबहू!" शेषगिरराव बोले, "उस तरह की पोशाक यदि तू पहन लेती—पर हां, वैसा अनाचार तू कभी नहीं करेगी यह बात दूसरी है—तो कोई भी कह देता कि वह स्त्री तू ही है! मैं तो क्षण-भर के लिए भ्रम में ही पड़ गया था।"

"क्या ही आश्चर्य है!" देवी बोली।"

मैंने हिचकते-हिचकते कहा, "पहले तो मुझे यही शक हुआ था कि वह तुम ही होगी!"

मेरे इन उद्‌गारों को सुनकर देवी ज़ोर से हंस पड़ी। वह हास्य बिलकुल उसी स्त्री के हास्य की तरह था।

मुझे आश्चर्य हुआ—यह ऐसी उल्टी तुलना मैं क्यों कर रहा हूं ?

"अभी तुम हंसीं न," मैंने कहा, "बिलकुल हूबहू वह भी इसी तरह हंसी थी।"

देवी पुनः हंस पड़ी। मैंने बड़े ध्यान से देखा। उस स्त्री के और देवी के हास्य में एक फर्क था। वह स्त्री हंसते वक्त भौंहों को उठाती थी, आंखें तिरछी कर लेती थी और गरदन को धीरे-धीरे बड़े प्यारे झटके देती थी। देवी का हास्य बिलकुल मामूली था।

पर मामूली भी कैसे कहूं ? मुझे रेसकोर्स पर की याद हो आई। उसके हास्य की जिस एक आकर्षकता ने मेरे मन को बेचैन कर डाला था, उसका मुझे स्मरण हो आया। देवी के हंसने में भी आकर्षण था, पर उस स्त्री के हंसने में जो विशेषता थी, जो उन्मादक आकर्षण था, वह देवी के हंसने में नहीं था। बस, इतनी ही बात है।

दूसरे दिन मैं प्रकाशक से मिलने गया। उस समय मैंने उस स्त्री के बारे में पूछताछ की। उसका नाम बताने के लिए भी प्रकाशक हिचकिचा रहा था। मैं भी फिर अधिक ज़िद न कर सका। मैंने सोचा, उस स्त्री के बारे में व्यर्थ की पूछताछ करने से, हो सकता है, मेरे बारे में प्रकाशक का अभी तक जो अच्छा मत है वह कहीं बुरा न हो जाए। इसलिए फिर मैंने उस स्त्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की जानकारी प्रकाशक से प्राप्त करना बन्द कर दिया।

लेकिन क्या आज वह फिर आनेवाली है, यह पूछे बिना मुझसे नहीं रहा गया। यह प्रश्न जब मैंने पूछा तो प्रकाशक बोला :

"शायद आएगी भी। अभी तक पूरी बातें नहीं हुई हैं। बहुत-से मुद्दे अभी निश्चित होने को रह गए हैं। प्रकाशक का धंधा ही ऐसा है कि जब तक लेखक और प्रकाशक एक-दूसरे की सहूलियतों को नहीं देखते, तब तक यह धंधा चल ही नहीं सकता। पुस्तक काफी अच्छी बिकी है। आज तक जितनी पुस्तकें मैंने प्रकाशित कीं, उनसे कितनी ही गुनी अधिक संख्या में यह पुस्तक बिकी है। पिछले तीन महीनों में उस पुस्तक के दो संस्करण

निकल चुके और लगता है कि एक-दो महीने के बाद उसका तीसरा संस्करण भी निकालना पड़ेगा। जो पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई है उसके लेखक को यदि मैं उचित पारिश्रमिक न दूं तो लोग मुझे कृतघ्न कहेंगे। प्रकाशकों के खिलाफ एक तो पहले ही से चिल-पों मची है, उन्हें बदनाम किया जा रहा है और ऊपर से यदि इतनी लोकप्रिय पुस्तक के लिए मैं लेखक को धोखा दूं तो फिर मुझे यह धंधा ही आगे चलकर बन्द कर देना होगा।"

प्रकाशक के व्यवसाय की कठिनाइयां, प्रकाशक के व्यवसाय का नफा-नुकसान—खास कर नुकसान आदि का वर्णन वह इतनी रसभरी भाषा में करने लगा कि मुझे ऐसा लगा कि प्रकाशक का धंधा किसीको कभी न करना चाहिए। लोगों को प्रसिद्धि प्राप्त करा देने के लिए प्रकाशक जो इतना महान स्वार्थ-त्याग करता है, उसका हाल सुनकर मैं मुग्ध हो गया।

हमारा सौदा पक्का हो गया। पेशगी जो रकम देनी थी यह मैंने दे दी और प्रकाशक से मशीन बेलगांव भिजवाने और वहां उसे अपने आदमी से लगवा देने का वचन ले लिया। मैं जा ही रहा था कि···

उसी समय वह स्त्री आई। उस समय मुझे क्या लगा, इसका वर्णन करने के लिए मेरी लेखनी समर्थ नहीं। प्रकाशक और उससे कोई बातें हों इससे पहले ही मैं आगे बढ़ा और उससे नमस्ते की। उसने मेरी ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया। पर मैंने अपने मन में यह निश्चय ही कर लिया था कि अपमान भले हो ही, पर अपने राम पीछे हरगिज़ नहीं हटेंगे। वह किसी भी तरह मुझसे पेश आए मुझे इसकी कोई परवाह न थी।

यह जानते हुए भी कि जवाब क्या मिलेगा, मैंने उससे पूछा, "माफ कीजिए देवीजी, पर आपका नाम जानने की मेरी बड़ी इच्छा है।"

वह स्त्री पहले जैसी ही हंसी। उस हास्य को विशिष्ट रीति से देखने की और उसे ध्यान में रखने की प्रवृत्ति मुझमें क्यों जाग उठी थी, यह मैं स्वयं नहीं समझ पा रहा था।

"आपको मेरे नाम से क्या करना है?" वह बोली, "मैं कोई लेखिका नहीं···वह पुस्तक मैंने नहीं लिखी है। यदि वह पुस्तक मैंने लिखी होती तो

मेरे नाम की पूछताछ करने का कोई मतलब था। पर यहां मैं सिर्फ संदेश-वाहक का काम कर रही हूं…"

"आपके भाई असाधारण हैं और ऐसे असाधारण मनुष्य की आप बहन हैं। इसलिए किसीकी भी यह इच्छा हो सकती है कि वह उस बहन का नाम जाने। क्या यह बिलकुल स्वाभाविक नहीं?" मैं बड़ी चापलूसी से यह कह रहा था। मेरी वह चापलूसी खुद मुझे ही महसूस हो रही थी। मुझे शर्म लग रही थी।

"भाई और बहन में क्या कभी इतनी समानता होती है?" वह बोली, "मेरा भाई एक असाधारण लेखक के नाते सुप्रसिद्ध हो गया है, यह सच है; पर मैंने उसका वह उपन्यास अभी तक ठीक से पढ़ा भी नहीं। उसकी यह प्रवृत्ति है कि अपने लेखन से वह सारी दुनिया को दंग कर दे। और किसी भी पुस्तक को खोलकर न पढ़ने की मेरी प्रवृत्ति है। हम दोनों के स्वभाव एक-दूसरे से बिलकुल विरुद्ध हैं। घर में भी हम दोनों की नहीं पटती।"

"क्या उसका विवाह हो गया है?" मैंने चट से पूछा।

भौंहें चढ़ाकर वह पुनः उसी तरह हंसी। हंसते समय उसकी पुतलियों की जो हलचल हो रही थी, उसे देखकर मुझे बड़ा अजीब-सा लग रहा था।

वह बोली, "क्यों? आपके घर कोई विवाह योग्य लड़की है क्या?"

"हां, है।" मैंने कहा।

"अच्छा, तो यह बात है!" उसने पुनः भौंहें चढ़ाकर तिरछी गरदन से मेरी तरफ देखते हुए कहा, "पर आपको क्या यह मालूम है कि हमारी जाति क्या है? या कि किसी भी जाति के पुरुष से अपनी लड़की का विवाह कर देने को आप तैयार हैं?"

"छि! छि! यह कैसे होगा?" मैंने कहा, "आपने उस सभा का वर्णन पढ़ा है। मेरे पतों से आप परिचित हो ही गई होंगी। अजी, चाहे जिस जाति के पुरुष से विवाह करने की बात तो बहुत दूर की है, पर गोत्र, प्रवर, घराना और शील आदि को ध्यान में लिए बिना चाहे जिस उठल्लू को हमारे घर की लड़की नहीं दी जाएगी, यह आप पक्की तरह याद रखिए।"

"तो हमारे घर आपकी दाल नहीं गलेगी।" वह गंभीर स्वर में बोली, "यों देखा जाए तो हमारी कोई जाति ही नहीं···"

मैं बिलकुल आश्चर्यचकित हो गया। "हमारी कोई जाति ही नहीं!" वह आगे बोली, "हम सिर्फ दो जातियां जानते हैं। एक स्त्री-जाति और दूसरी पुरुष-जाति।"

"ऐसा?" मैंने प्रश्नार्थक मुद्रा करके पूछा। यह पूछते समय मेरी निगाह उसके गले पर थी। उसका ब्लाउज़ बिलकुल नई फैशन का होने के कारण गले का बहुत-सा भाग खुला था।

मैं उसके गले की ओर देख रहा हूं, यह बात उसके ध्यान में आ गई। वह बोली, "क्या देख रहे हैं जनाब! गले में मंगलसूत्र का अडगोड़ा अटकाने के लिए क्या आप मुझे पुराणकाल की सीता या सावित्री समझ रहे हैं? हम लोगों के विवाह अगर कभी हुए ही तो आधुनिक रजिस्टर-पद्धति से होते हैं। आया ध्यान में? हम उन लोगों में से हैं जो रजिस्टर-पद्धति से विवाह करके उसे कानूनी बना देते हैं। हमारा यह भी मत नहीं कि विवाह बिलकुल होना ही चाहिए···"

"सच! क्या ऐसे लोग भी हैं इस दुनिया में?"—मैंने पूछा, "मेरा ख्याल था कि ऐसी बातें सिर्फ कहानियों और उपन्यासों में ही मिलती हैं। कोई आदर्श उपस्थित करने के लिए अथवा किसी नई विचार-धारा का लोगों में प्रचार करने की गरज़ से आजकल के लेखक ऐसे विचारों को अपने ललित साहित्य के माध्यम से लोगों तक पहुंचाते होंगे। परंतु वस्तु-स्थिति भी ऐसी होगी, यह अलबत्ता मैंने कभी नहीं सोचा था। वैसे अविवाहित दंपति हमारे बेलगांव में भी कोई कम नहीं हैं। ये दंपति यानी विवाहित पुरुष और अविवाहित स्त्री दोनों एक ही घर में रहते हैं—बड़े सुख और संतोष में रहते हैं। इस दंपति के पुरुष की विवाहित स्त्री मज़े से उनके घर आती-जाती रहती है। फिर अगर विवाहित स्त्री के घर अविवाहित दांपत्य की स्त्री भी आती-जाती हो तो इसमें आश्चर्य क्या? परन्तु उसे विवाह बेशक नहीं माना जाता। ऐसी अविवाहित स्त्री को पत्नी कोई

नहीं कहता। उसके लिए एक खास नाम है जिसे मैं अपने मुंह से नहीं कहना चाहता। मैं अभी तक अपने धर्म से इतना च्युत नहीं हुआ हूं कि उस गंदे शब्द का उच्चारण करके अपनी जिह्वा को भ्रष्ट करूं।"

"अच्छा, यह बात है ?" वह पुनः बोली, "तो मतलब यह कि कुल मिलाकर आप इस अविवाहित दाम्पत्य से काफी परिचित हैं। आप नाम कुछ भी दीजिए, पर दोनों पति-पत्नी के नाते से ही तो रहते हैं न ? आपकी बिलकुल पुराणकाल की स्त्रियां पातिव्रत्य के जिन बंधनों का पालन करती थीं, वे सब बंधन ये स्त्रियां भी पालती हैं न ? उनसे उत्पन्न हुए लड़कों के विवाह हुए हैं और वे लड़के आगे चलकर अच्छे प्रसिद्ध हुए हैं न ? उन्होंने अच्छा नाम कमाया है न ?"

"हां, हां, यानी···" मैंने कहा, "कोई वकील हुए हैं, कोई बैरिस्टर हुए हैं, कोई जज हुए हैं, अच्छे पुरुषार्थी हुए हैं। यही नहीं बल्कि देश की राजनीति में भी वे दिखते हैं, नेता हो गए हैं ; रियासतों में बड़े-बड़े अधिकारी पद पर भी हैं···"

"तो विवाह न होने के कारण मनुष्य की वृत्ति अथवा बुद्धि में कोई फर्क नहीं होता, यह आपके इन उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है। है न ?" वह एकटक मेरी ओर देखती हुई बोली।

मैं हक्का-बक्का हो गया। मैं यह क्या कह बैठा ? अपने ही सिद्धांत को मैं काट रहा था !

"खैर, छोड़िए ये बातें !" वह तुच्छता से बोली, "मुझे अब काम है। माफ कीजिए, यदि कुछ कम-अधिक मेरे मुंह से निकल गया हो तो आप उसे मन में न रखें···" ऐसा कहकर वह प्रकाशक की मेज़ के नज़दीक की एक कुर्सी आगे खींचकर उसपर बैठ गई और पुनः मुड़कर मेरी ओर देखती हुई बोली, "मेरा या मेरे भाई का नाम जानने की आप कोशिश न करें। आपको वह कभी मालूम न हो पाएगा। और अगर मालूम भी हुआ तो उससे दुनिया को कोई बड़ा फायदा भी न होगा; पर उस लेखक का अलबत्ता आप नुकसान कर देंगे। समझे ?"

मैं प्रकाशक से विदा लेकर वहां से चल दिया। मेरे वहां से निकलते समय उस स्त्री ने गरदन पीछे मोड़कर मेरी ओर एक ऐसी अजीब नज़र से देखा कि उस देखने की याद को मन में पक्की जमाकर ही मुझे घर लौटना पड़ा।

६

बंबई जिस काम से मैं आया था, वह सब पूरा हो चुका था और मैं बेलगांव के लिए रवाना हुआ।

शेषगिरराव की बड़ी इच्छा थी कि मैं अभी कुछ दिन और ठहरूं, पर काका की अनुमति के बिना मेरे लिए वहां अधिक रुकना संभव नहीं था।

शेषगिरराव वहां अभी एक-दो सप्ताह और भी ठहर सकते थे; पर इतने दिनों तक मेरा बंबई में रहना काका कतई पसंद न करते।

बेलगांव पहुंचकर मैं छापाखाना लगाने में लग गया था। इसलिए किसी दूसरे काम की ओर मैं विशेष ध्यान नहीं दे पाता था। इस धंधे की मुझे कुछ भी जानकारी नहीं थी। बंबई से जो जानकार आदमी मेरे साथ आया था, उसीसे मैं सब प्रकार की जानकारी प्राप्त कर रहा था। कोल्हापुर से कंपोज़ीटर लाए गए थे। कुछ नये आदमियों को तैयार करना यहीं शुरू कर दिया था।

छापाखाना ठीक से लगाने में पन्द्रह दिन सहज लग गए। इस अवधि में मुझे घूमने जाने को भी वक्त न मिला।

जिस दिन मैं रेसकोर्स गया, उस दिन वासंती आदि लड़कियों से वहां मेरी मुलाकात हुई। उनसे बातें करने को मेरा मन नहीं कर रहा था; परंतु वासंती ही अपने दल के साथ स्वयं मेरे पास आई और मुझसे बातें करने लगी।

देवी के स्वास्थ्य की पूछताछ से बातें शुरू हुईं और वर्तमान आंदोलन पर वे उतर आईं।

वासंती बोली, "आप लोगों ने जो आन्दोलन किया, वह किसीको भी पसंद नहीं आया। गंगाधरराव मास्टर ने आपकी गैरहाज़िरी में आपके विरोध में एक सभा बुलाई थी। इसका पता तो आपको लग ही गया होगा..."

मुझे इसका पता लग गया था। पर मैंने अपने मन में यह निश्चय ही कर लिया था कि उसके बारे में मैं कभी किसीसे कोई पूछताछ नहीं करूंगा। इसलिए उस सभा के बारे में मुझे कोई जिज्ञासा है, यह मैंने उन लड़कियों को बिलकुल न दिखाया।

वासंती बोली, "यदि आपको मालूम न हो तो मैं बताती हूं। हाई-स्कूल और कालेज के लड़कों ने और लड़कियों ने भी बहुत बड़ी संख्या में उस सभा में भाग लिया था। बाबू भगवानदास का बिल जो इस समय विधानसभा में चर्चा के लिए आया है और श्री हरीसिंह गौर का डाईव्होर्स बिल, इन दोनों बिलों का आधार लेकर सभा में काफी चर्चा हुई और इस सारी चर्चा का केन्द्र था 'खिलती कली' उपन्यास, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई और लेखक को ऐसी अच्छी पुस्तक लिखने के लिए धन्यवाद दिए गए। आप उस सभा का संपूर्ण वृत्तान्त एक बार अवश्य पढ़ें। 'ज्ञान-प्रकाश' में उसकी वड़ी विस्तारपूर्वक और सुंदर रिपोर्ट आई है..."

"मुझे उससे कोई वास्ता नहीं।" मैं हैरानी से बोला, "उस उपन्यास में जिस प्रकार के प्रसंगों का चित्रण किया है, उन्हें पढ़कर किसी भी सभ्य मनुष्य का मन विषाद से भर उठेगा। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि जो भी उन प्रसंगों का समर्थन करेगा, वह आर्य और हिन्दू संस्कृति का शत्रु है और हमारी इस धारणा में रत्ती-भर भी फर्क नहीं होगा। तुम्हारा यह अरण्य-रोदन हमारे दृढ़ मतों पर ज़रा भी प्रभाव नहीं डाल सकेगा।"

वासंती हंस पड़ी, पर उसके हास्य में देवी के हास्य की माधुरी और कोमलता न थी। वह तो हंसना चाहती थी, इसीलिए हंसी; बस! उसके

हास्य का मेरे मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यदि कुछ पड़ा होगा तो यही कि उसके कारण मुझे देवी के हंसने की याद हो आई।

हर लड़की का हंसना कैसा होता है, इसका सूक्ष्म निरीक्षण करने की वृत्ति मुझमें क्यों उत्पन्न हो गई ?

वासंती बोली, "देवी का स्वास्थ्य अब तो अच्छा है न ?"

"हां ! मैं जब आया था उस समय वह चलती-फिरती नहीं थी," मैंने कहा, "पर शेषगिरराव कहते थे कि डाक्टर ने कहा है कि उसके स्वास्थ्य में ऐसी कोई बात नहीं जिसके लिए चिंता की जाए।"

"देवी का विवाह तय हो रहा है !" वासंती धीरे से बोली।

मैंने कहा, "इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सच पूछा जाए तो इससे पहले ही उसका विवाह हो जाना चाहिए था। उसकी उम्र की हमारी जाति की अन्य लड़कियां अभी तक दो-तीन बच्चों की माताएं भी हो गई हैं···

सभी लड़कियां ज़ोर से हंसने लगीं।

"हंसती क्यों हो ?" मैंने चिढ़कर पूछा, "इसमें हंसने लायक क्या है ? क्या वे माताएं नहीं बनीं ?"

"बनी हैं।" वासंती बोली, "कौन कहता है कि वे माताएं नहीं बनीं ? पर इतनी-सी लड़की की गोद में दो-तीन बच्चे देखकर आपको लड़कियों की जात पर तरस नहीं आता ? 'मां' शब्द कितना पवित्र है ! कितना भावनात्मक है ! आपकी भाषा में कहूं, तो कितना आध्यात्मिक है ! ··· पन्द्रह-सोलह वर्ष की लड़की और वह मां बन जाए—क्या इस विचार से ही आपके रोंगटे नहीं खड़े होते ?"

मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैं चुपचाप शान्ति से उनकी सब बातें सुन रहा था; इसका उन्होंने फायदा उठाकर मुझसे चाहे जो बातें करनी शुरू कर दीं। यह बात मेरे ध्यान में आई और मैंने कहा :

"देखो जी, छोटे मुंह बड़ी बात करना ठीक नहीं। हमारे जेठे-सयाने मौजूद हैं। उन्हें जो उचित प्रतीत होता है, वही वे कर रहे हैं। फिर लड़के-लड़कियों को उनके मामलों में अपने निजी मत घुसेड़ने की क्या ज़रूरत ?"

वासंती एक क्षण के लिए रुककर बोली, "खैर, यह बात छोड़िए, लड़के-लड़कियों को अलग हटाइए। अब मैं एक दूसरा सवाल पूछती हूं, उसका जवाब दीजिए। यदि पन्द्रह-सोलह वर्ष की लड़की को मातृ-पद देने की आवश्यकता है तो आप जैसे धर्म-मार्तंड तीस की उम्र पर पहुंचकर भी बिना विवाह के क्यों रहे? क्या यह उचित प्रतीत होता है?"

"तुम भूल रही हो वासंती।" मैंने कहा, "मेरा अभी छब्बीसवां वर्ष शुरू हुआ है···"

"खैर, छब्बीस ही सही···" वासंती बोली, "पुराने ज़माने में छब्बीस साल का तरुण दो-तीन बच्चों का बाप हो जाता था, ऐसे प्रमाण मौजूद हैं। फिर आप क्यों अभी तक अविवाहित रहे? क्यों नहीं आपने शिकायत की अपने काका से? क्यों नहीं आपने विवाह कर लिया इससे पहले?"

क्रोधावेश में मैं एकदम उठकर खड़ा हो गया, और जब चलने लगा तो सारी लड़कियां खिलखिलाकर हंसने लगीं।

मुझे लगा, मैंने शायद गलती की, और मैं पुनः जाकर बेंच पर बैठ गया।

वासंती उस ढीठ लड़की को लक्ष्य कर बोली, "देखा मालती, मर्दों का गुस्सा ऐसा होता है। अगर औरतों या लड़कियों को गुस्सा आ जाए तो वे दिन-भर कुढ़ती रहती हैं। परन्तु मर्दों का गुस्सा बिजली के झटके की तरह होता है। यह आया और वह गया!"

मैंने निश्चय कर लिया कि कुछ भी नहीं बोलूंगा। ये लड़कियां दिन-प्रतिदिन बहुत बिगड़ती जा रही हैं। समाज में मेरा अपना कोई एक दर्जा था, इसके सिवा अब मैं एक समाचारपत्र का संपादक होने जा रहा था। यदि घराने की दृष्टि से देखा जाए तो हमारा घराना सारे बेलगांव में बड़ा सभ्य माना जाता था। उन छोकरियों को कम से कम यह तो मालूम होना चाहिए कि वे शहर के एक बड़े प्रतिष्ठित खानदान के व्यक्ति से बातें कर रही हैं। ज़रा इज़्ज़त से पेश आना था उन्हें। मेरे विवाह की बेकार की पंचायत उन्हें क्यों?

मालती बोली, "क्या सभी मर्दों के क्रोध का यही हाल होता है वासंती,

कि यह आया और वह गया ?"

"यह तो मैं नहीं जानती।" वासन्ती बोली, "परन्तु ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं कि स्त्रियों के सामने—उसमें भी 'हमारी उम्र की' स्त्रियों के सामने—ऐसे भाववश पुरुषों का क्रोध बहुत देर टिका नहीं रहता। बड़े-बड़े कवि भी अपनी कविताओं में इसी बात की प्रमुखता से चर्चा करते हैं। किसी भी कवि की कविता को पढ़ो, उसमें यही मिलेगा कि स्त्री रूठी है। वह बराबर रूठी रहती है, पुरुष उसकी खुशामद करता है, आंसू बहाता है, आहें भरता है; इतना ही नहीं, बल्कि उसके चरण भी चूमता है। पर हां, सिर्फ कविता में, समझीं ? सचाई क्या है यह जानने के लिए मुझे और तुम्हें अभी बहुत समय है।"

अब मुझसे बिलकुल न रहा गया और मैं उठकर चल दिया।

घर आया। देखा तो शेषगिरराव आए थे और काका से बातें कर रहे थे। मैंने आते ही शेषगिरराव से देवी के स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ की। वे बोले, "डाक्टर ने तो कहा था कि बात आपरेशन तक पहुंच गई थी; पर अब कोई भय नहीं। आपरेशन की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। यह ज़रूर सलाह दी है कि उसे किसी अच्छे जलवायु के स्थान पर ले जाना चाहिए।"

"बाहर के लोग अच्छे जलवायु के लिए हमारे बेलगांव आते हैं।" काका बोले, "तो अब आप देवी को और किस कश्मीर ले जाएंगे ? डाक्टरों की बात ही ऐसी होती है ! आप डाक्टर की सलाह को धता बताइए शेषगिरराव, और मेरी सुनिए। देवी को यहीं रहने दीजिए और उसे किसी काम में लगाइए। हम अपना अखबार निकाल ही रहे हैं। उसमें देवी को भी थोड़ा-बहुत लिखते रहना चाहिए। जब किसी लेख को कोई स्त्री लिखती है तो उस लेख को विशेष महत्त्व प्राप्त होता है। भारतीय धर्म विशेषत: हिन्दू धर्म और संस्कृति के समर्थन में लिखनेवाली स्त्रियों की संख्या दिन-प्रतिदिन कम हो रही है। आजकल जहां भी देखो, वहां स्त्रियों के लेख अनाचार और स्वेच्छाचार का समर्थन करनेवाले ही होते हैं। हमारी देवी को अपने लेखों से इन विदुषियों के सामने आदर्श उपस्थित करना चाहिए,

उन्हें सबक सिखाना चाहिए।"

समाचारपत्र की कुल व्यवस्था किस प्रकार की जाए, इस विषय की बातें होती रहीं। समाचारपत्र एक-दो सप्ताह के भीतर निकल जाना चाहिए ऐसी व्यवस्था की गई।

काका की यह योजना कि देवी अखबार में लिखे, मुझे बड़ी पसन्द आई। लेखन-कला देवी में है या नहीं, इसकी मुझे कोई कल्पना न थी। यदि यह सिद्ध हो जाए कि वह अच्छी लेखिका नहीं तो मुझे अच्छा लगेगा, ऐसा मेरा मन मुझसे कह रहा था। मेरे लेखों की अपेक्षा उसके लेखों को यदि अधिक महत्त्व प्राप्त हो जाए तो मुझे बुरा न लगेगा। परन्तु उसके लेखों में इतनी कमी मैं ज़रूर चाहता था कि एक संपादक के नाते उन लेखों में संशोधन और सुधार करने का अधिकार मुझे रहे। यदि इतना ही हो जाए तो मुझे संतोष हो जाएगा, ऐसा मुझे लग रहा था।

मैं सकपका रहा था उस खबर से जो वासंती ने मुझे दी थी। देवी का विवाह क्या सचमुच कहीं तय हो रहा है? अगर तय होता भी हो, तो मुझे इतना सकपकाने की क्या ज़रूरत?

पर मन में मसोस हो रही थी, इसमें शक नहीं।

केवल मसोस नहीं, मन बेचैन हो उठा था। सारी रात मेरी नींद हराम रही।

देवी का विवाह एक बड़े ज़मींदार से हो गया है। उसके घर में बड़ा ऐश्वर्य है। घोड़ों की गाड़ी में, गहनों से लदी वह शान से घूम रही है—ऐसा कलात्मक चित्र मैंने अपनी नज़रों के सामने खड़ा करके देखा। पर मुझे वह आकर्षक नहीं लग रहा था। ऐसी विदुषी लड़की, जिसके विषय में मैं यह आशा लगाए बैठा था कि वह एक प्रसिद्ध लेखिका होगी, किसी ज़मींदार के घर जाए और मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर जाए, यह कल्पना भी मुझे दुस्सह होने लगी।

मुझे अपने पर ही क्रोध हो आया।

ज़मींदार के घर जाकर देवी को यदि सुख, सन्तोष, शांति और वैभव

प्राप्त हुआ तो इसमें मेरी क्या हानि ? उसके लड़के होंगे जो बड़े होकर आगे अच्छा नाम कमाएंगे और अपने पिता का नाम उज्ज्वल करेंगे।

···पिता का नाम उज्ज्वल करेंगे ! पर मां का नाम कोई कहीं निकालेगा क्या ? उन लड़कों को शिक्षा देनेवाली, उन्हें अनुशासन सिखानेवाली, उन्हें उचित ढंग से लगानेवाली देवी—पर इस सबका श्रेय मिलेगा लड़कों के बाप को ! उनकी मां, देवी को नहीं !

क्या यही है हमारा सनातन हिंदू धर्म ? यहां स्त्रियों को स्वतन्त्र यश की अपेक्षा क्यों नहीं करनी चाहिए ? क्या यह उचित लगता है ?

मैं कहीं भी भटका जा रहा था। क्या मेरे मन में ये विचार इसलिए आ रहे थे कि देवी के विवाह की खबर सुनकर मेरे मन पर असर हो गया था ? हमारी जाति के अन्य परिवारों की तुलना में हम दोनों, यानी मैं और देवी, विवाह की दृष्टि से उम्र में बढ़ गए थे। फिर हिंदू धर्म और संस्कृति के रक्षक के नाते हम दोनों परिवारों के कर्ता-धर्ता पुरुष अग्रणी माने जाते थे। इसके बावजूद शेषगिरराव और मेरे काका, दोनों ने हम लोगों के विवाह की ओर अभी तक कोई ध्यान ही नहीं दिया था और इसीलिए कट्टर पुराणपंथियों में यह एक चर्चा का विषय हो बैठा था।

दोनों पर यह आरोप किया जाता कि यदि ये लोग लड़के और लड़की के प्रत्यक्ष मां-बाप होते, तो शायद यह स्थिति न रहती।

मुझे लगा, सिर्फ मुझे लगा, मैंने किसीसे कहा नहीं और कहता भी तो किससे कहता ? काका थे दुर्वासा जैसे महान क्रोधी और शेषगिरराव से अभी-अभी ही घनिष्ठता स्थापित हो रही थी; फिर भी मुझे लगा, हम दोनों का एक-दूसरे से विवाह क्यों नहीं हो जाना चाहिए ?

मुझे आश्चर्य हुआ, वह यही कि यह विचार शेषगिरराव के दिमाग में क्यों नहीं आया ?

काका अपना दर्जा नहीं छोड़ेंगे। वे लड़की मांगने वरपक्ष के पास कभी नहीं जाएंगे। यह तो शेषगिरराव को चाहिए था कि लड़की का प्रस्ताव लेकर वे स्वयं काका के पास आते। फिर वे अभी तक क्यों नहीं आए ?

क्या उन्हें मुझमें कोई दोष दिखाई दिया ? यदि मुझमें उन्हें कोई कमी दिखाई देती, तो समाचारपत्र के संपादन की संपूर्ण ज़िम्मेदारी वे मुझपर कभी न डालते। नवमतवादियों का डटकर सामना करने के लिए, उन्हें मुंहतोड़ जवाब देने के लिए अखबार निकालना कोई हंसी-खेल नहीं था। नवमतवादी लोगों में जितने विद्वान मनुष्य थे, उतने ही लगन के मनुष्य भी थे। विद्वत्ता और लगन के ज़ोर पर चाहे जिस परिस्थिति में वे लोग पुराणपंथियों से लड़ने को तैयार थे। ऐसे लोगों का मुकाबला करने के लिए मुझे अखाड़े में खड़ा किया गया था। तो ऐसा वह मैं, देवी का पति होने के लिए नालायक हूं, ऐसा कैसे कहा जा सकता था ?

मुझे लगा, संपादक के कार्य की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए योग्य पुरुष शायद गृहस्थी की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए नालायक साबित होते होंगे।

बचपन से देवी बड़ी चंचल लड़की थी। बचपन से ही वह बिना मां-बाप की थी। इस कारण उसके जो लाड़ किए गए, उसके परिणामस्वरूप वह बहुत कुछ निडर बन गई थी। ऐसी निडर लड़की के लिए मुझ जैसा युवक, पति के नाते, लायक नहीं है—ऐसा शायद शेषगिरराव का ख्याल होगा। यदि उनका यह ख्याल है, तो क्या यही है उनकी पुराण-पंथी वृत्ति जिसपर उन्हें इतना गर्व है ?

पुराणपंथी गृहस्थी में देवी बढ़ी थी। पुराणपंथी मत उसके हाड़-मांस में रमे थे। काका जैसे क्रोधी ससुर के घर आकर क्या वह उसी तरह चंचल बनी रह सकती थी जैसीकि अपने मायके में थी ? शेषगिरराव के दिमाग में यह छोटी-सी बात भी कैसे नहीं घुसी ?

पर ये सब मेरे मन के मोदक थे। शेषगिरराव को क्या लगता है, अथवा मेरे काका को क्या लगता है—इसकी मुझे कोई कल्पना नहीं थी।

यदि दोनों में से इस विषय में किसीको कुछ लगा होता, फिर भी उसकी चर्चा वे मेरे सामने कभी न करते। इसलिए मेरे ये विचार सिर्फ मनमोदक ही सिद्ध हो रहे थे।

१०

सम्पादक का आफिस सजा दिया गया। आफिस हमारे घर में ही रखा गया था। घर के अहाते में काफी जगह थी जहां छापाखाना भी लगाया जा सकता था। परन्तु छापेखाने के चलते समय होनेवाली खटखट की आवाज़ से काका को तकलीफ होती, इसलिए हमारे घर के नज़दीक ही एक मकान में छापाखाना रखा गया था। छापाखाना और आफिस दोनों एक-दूसरे के बिलकुल नज़दीक होने के कारण प्रूफों के लाने ले जाने में विशेष अड़चन नहीं थी।

मैं पहले अंक की तैयारी में लग गया। डिक्लेयरेशन मंजूर हो गया। सरकार में काका का अच्छा वसीला होने के कारण इस काम में कठिनाई आने का कोई कारण ही नहीं था। समाचारपत्र का नाम 'सच्चा हिन्दू' रखा गया। शहर में जगह-जगह पर पत्र के विज्ञापन लगा दिए गए थे। इसके अतिरिक्त पूना और बम्बई के समाचारपत्रों में भी विज्ञापन दे दिए गए थे। विशेषत: जो पत्र नवमतवाद के समर्थक थे, उन पत्रों में इस विज्ञापन को आग्रहपूर्वक देने की व्यवस्था की गई थी।

अंक के तैयार करने में मैं लग तो गया, पर क्या लिखूं, यही मुझे नहीं सूझ पा रहा था। कोई एक बात सुझाता तो दूसरा उससे बिलकुल अलग कोई दूसरा ही सुझाव देता था। जो लोग मुझे घेरे रहते थे, वे भी अपनी-अपनी तरफ से बोधामृत की बोतलें मुझे पिला रहे थे। सुझाव देनेवालों की संख्या इतनी हो गई थी कि किसका सुझाव सुना जाए, यही मैं नहीं समझ पाता था।

पहले अंक के लिए एक लेख लिखने की शेषगिरराव ने देवी को आज्ञा दी थी। उस समय तत्कालीन समाचारपत्रों में बहुचर्चित भगवानदास और देशमुख और उसी तरह नागपुर के डा० खरे के बिलों का ज़ोरदार विरोध करनेवाला लेख लिखने का दायित्व देवी पर सौंपा गया था। शेषगिरराव ने मुझे खबर भेजी कि देवी का वह लेख करीब-करीब

तैयार हो गया है। पहले अंक में 'सम्पादक का निवेदन' शीर्षक से मुझे एक लेख लिखना था और यह किस तरह लिखा जाए यह मुश्किल मेरे सामने एक विकट समस्या के रूप में खड़ी हो गई थी। दो-तीन बार दो-तीन प्रकार से मैंने यह लेख लिखा, पर मेरी बड़ी अजीब-सी स्थिति हो जाती थी। भगवान जाने क्यों ? होता यह था कि लिखना चाहता था कुछ और, हाथ लिख देते थे कुछ और ही। नवमतवादियों का विरोध करने के लिए मैं लेख आरम्भ करता और जब पूरा लेख पढ़कर देखता, तो ऐसा दीख पड़ता कि अन्त में मैंने उस लेख में नवमतवादियों का समर्थन ही अधिक किया है।

देवी को जो लेख लिखने दिया गया था, उसे वह अपने घर में बैठकर लिख रही थी। शेषगिरराव जब मेरे पास आए तो मैंने उनसे कहा, "पत्र के सम्पादन का आधा भार आपने देवी पर सौंपा है। उसकी बुद्धिमत्ता के बारे में दो मत नहीं। वह सुन्दर लिखेगी इसका मुझे भी विश्वास है। पर आखिर वह लड़की है। अपना लेख वह मुझे भेजेगी, मैं उसे पढ़ूंगा। उसमें सुधार करूंगा। वह लेख पुनः उसके पास भेजूंगा। इसमें काफी वक्त बरबाद होगा, जो पत्र को समय पर निकालने में बाधा बनेगा। इसलिए मेरा ख्याल है कि उसे हमारे आफिस में ही आकर अपने लेख लिखने चाहिए। आपका क्या ख्याल है ?"

"क्या यहां दफ्तर में आकर ?" शेषगिरराव आश्चर्यचकित होकर बोले, "यानी क्या यहां ? सम्पादक की कुर्सी के पास बैठकर ?"

"जी हां, तो क्या नुकसान है इसमें ?" मैंने काफी निर्भयता से कहा, "एक बार जब कोई ज़िम्मेदारी स्वीकार कर ली है तो उसे पूरा करने के लिए आगे-पीछे देखना कोई अच्छी बात नहीं। देवी का नाम यद्यपि सम्पादक के नाते पत्र में छापा नहीं जाएगा, पर हम लोगों की योजना के अनुसार पत्र के सम्पादन का आधा भार उसपर भी रखा गया है। घर में बैठकर वह यह दायित्व कैसे संभालेगी ? यहां आने से थोड़ा विचार-विनिमय होगा और जो भी उसे लिखना होगा वह मेरी ज़िम्मेदारी और

हमारे पत्र की नीति के अनुरोध से लिखेगी। व्यर्थ का समय नष्ट नहीं होगा। इसलिए मेरा ख्याल है कि कम से कम अपना लेख लिखते तक वह यहां आफिस में बैठे तो कुछ नहीं बिगड़ेगा।"

"तुम क्या पागल हो गए हो, श्रीनिवास !" शेषगिरराव बोले, "अरे, हम पुराणपंथी लोग हैं, हम न सुधारक हैं और न नवमतवादी। देवी आकर यदि यहां तुम्हारे पास तुम्हारे दफ्तर में बैठने लगी और लोगों ने देख लिया तो वे क्या कहेंगे ? पुराणपंथी पक्ष के समर्थन के लिए निकाले गए समाचारपत्र के आफिस में ही नवमतवाद का श्रीगणेश हो गया है, ऐसा जहां-तहां कोहराम नहीं मच जाएगा क्या ?"

"कौन आता है यहां आफिस में ?" मैंने बिलकुल तुच्छता से कहा, "यह 'मेरा' आफिस है और यहां किसीको आने देना या न आने देना मेरी मर्ज़ी पर है···" मैंने थोड़ा हंसकर कहा, "अपने आफिस में आने की मैं आपको भी मनाही कर दूंगा। आप तो आप, काका को भी अपने आफिस में कदम नहीं रखने दूंगा। मेरी जिम्मेदारी है यह और मुझे उसे ईमानदारी से निभाना होगा। देवी कितनी भी विदुषी हो, पर आखिर है लड़की ही। वह चाहे जो लिख मारेगी और वह सब मुझे सुधारना पड़ेगा या उससे सुधरवा लेना पड़ेगा। इससे तो बेहतर यही होगा कि वह थोड़ी देर रोज़ आकर यहां बैठे—मेरे सामने लिखे—मेरी देख-रेख में लिखे। पत्रों में कैसा लिखा जाता है यह तरीका वह सीख लेगी और मेरी उतनी ही परेशानी कम हो जाएगी और पत्र भी सुन्दर ढंग से समय पर निकला करेगा।"

शेषगिरराव को मेरी बात कुछ पटी-सी लगी। वे बोले, "मैं सोचता हूं, इस विषय में हम काका से भी पूछकर देखें। तुम्हारी बात में कुछ तथ्य अवश्य है। अरे भई, हमें एक ज़ोरदार अखबार निकालना है और इसके लिए सब बातें यथोचित ही होनी चाहिए, यह सच है। और देवी पर ही सारी जिम्मेदारी डाल देना इष्ट नहीं, यह भी उतना ही सच है।"

अन्त में काका से भी पूछा गया।

काका से यह बात शेषगिरराव ने ही कही थी, यह अच्छा हुआ। अगर

मैं कहता तो वे मुझे कच्चा ही चबा डालते। पर इस सुझाव पर उन्होंने शेषगिरराव को भी कम फटकारा था, यह बात नहीं। परन्तु क्रोधावेश कम हो जाने पर वे मुझसे बोले, "तुम्हारी क्या राय है इस विषय में श्रीनिवास?"

इस भय से कि शेषगिरराव कहीं मेरी कलई न खोल दें, मैंने तुरन्त उत्तर दिया, "सच पूछा जाए तो मुझे यह बात पसन्द नहीं। परन्तु शेषगिररावजी का सुझाव कोई अनुचित है, ऐसा कम से कम मुझे नहीं लगता। एक सम्पादक काम करे दफ्तर में और दूसरा करे अपने घर में—यह व्यवस्था कुल मिलाकर कठिन हो जाएगी। वह कुछ लिखकर घर से भेजेगी। मैं यहां से सुधारकर उसे फिर उसके घर भेजूंगा। इसमें सिवा वक्त की बरबादी के और कोई फायदा मुझे नज़र नहीं आता। इसके अतिरिक्त हमारे छापेखाने में थोड़े-से ही आदमी हैं—इने-गिने कम्पोज़ीटर, छोटी-सी मशीन—छपाई में ही कितना अधिक समय लग जाता है? प्रूफ देखते-देखते बड़ी परेशानी होती है। यदि घर से भेजे गए लेख को यहां बैठे-बैठे मैं रिवाइज़ करूं, उसमें संशोधन करूं, तो इसमें मेरा बहुत-सा समय बरबाद होगा और इसके फल-स्वरूप ठीक तारीख पर अखबार निकालना मुश्किल हो जाएगा। यह देखिए, बाहर से कितने लेख आए हैं। पर किसी भी लेख में कोई तालमेल हो, तो कसम है। किसीने शुरूआत विरोध से की है और अन्त में उसीका समर्थन कर रहे हैं, तो कोई शुरूआत समर्थन से करता है और अन्त में विरोध करता है! यदि ये लेख ज्यों के त्यों छाप दिए जाएं तो हमारा अखबार कैसे चल सकता है? इन सबको देखकर मुझे अपने पत्र की नीति के अनुसार उन्हें सुधारना पड़ेगा।"

जिन लेखों की मैं बात कर रहा था, वे किसीने भेजे नहीं थे और न कहीं से आए थे। वे मेरे ही लेख थे। मेरी अभी जो घबराहट उड़ रही थी उसीमें से राह निकालने की मैं यह कोशिश कर रहा था।

काका बड़ी देर तक सोच रहे थे। पर शेषगिरराव की ज़बान लगातार चल रही थी। उन्हें देवी पर बड़ा गर्व था। देवी अगर आफिस में आकर

"यह बात नहीं है जी !" काका बोले, "इसमें इज़्ज़त का या बेइज़्ज़ती का कोई सवाल नहीं। कुछ भी हो, पर तुम दोनों ही तरुण हो। यदि किसी तरुण लड़के को किसी तरुणी लड़की के साथ एकान्त में बैठे कोई देख ले, तो उसे शक हुए बिना न रहेगा और दोनों को बदनाम करने का उसे एक अच्छा मौका मिल जाएगा। इसलिए इस बदनामी से तुम्हें बचाने की ओर हमें पहले ध्यान देना चाहिए। तुम दोनों के वहां रहते हुए यदि मुझ जैसा कोई बूढ़ा पेंशनर भी वहां हाज़िर रहा तो कोई कुछ न कह सकेगा; और मेरे वहां रहते हुए भी किसीने कोई आक्षेप किया या तुम्हें बदनाम करने की कोशिश की तो मैं उसे अच्छा मुंहतोड़ जवाब दे सकूंगा।"

यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी। मैं तो एकान्त ही चाहता था जिससे दोनों में दिल खोलकर चर्चा हो सकती। पर क्या करता? काका से बहस करने की मुझमें हिम्मत ही न थी।

यह शर्त मैंने चुपचाप बिना किसी विरोध के स्वीकार कर ली।

दूसरे दिन से देवी आफिस आने लगी और वहीं अपने लेख लिखने लगी। काका ने भी वहीं अपना आसन जमाया।

शेर के पिंजड़े के सामने किसी बकरे को बांधकर रखा जाए, उस समय बकरे की जो स्थिति होती है, वही स्थिति मेरी हो गई थी। काका के बैठ जाने से मैं कुछ लिख ही नहीं पा रहा था, मुझे सूझता ही नहीं था कि क्या लिखूं। एक तो मेरे मन में पहले से ही विचारों ने कोलाहल मचा रखा था और अब काका साहब सामने आकर बैठ गए थे। मेरा हाथ ही नहीं चलता था। क्या करूं यह मुझे सूझ ही नहीं पा रहा था।

धीरे से मैंने एक चिट्ठी लिखी और चुपके से वह देवी के पास सरका दी। उसमें मैंने ईमानदारी से स्वीकार किया था कि संपादकीय निवेदन कैसा लिखा जाए, यह मैं समझ नहीं पा रहा हूं।

कोई दूसरा होता तो मेरी चिट्ठी को देखकर हंस पड़ता; पर देवी ने अपने चेहरे पर ज़रा भी फर्क न होने दिया।

मेरे द्वारा दी गई चिट्ठी काका ने देखी नहीं थी। इसलिए मैं निश्चिंत

था। पर देवी से जब मेरी चिट्ठी का कोई जवाब नहीं आया, तो मैं बड़े असमंजस में पड़ गया। वह कुछ लिख रही थी यह अलबत्ता मैं देख रहा था। थोड़ी ही देर में संपादकीय निवेदन लिखकर उसने मेरे सामने फेंक दिया।

मैंने उसे पढ़कर देखा तो दंग रह गया। सोचने के लिए पहले कोई समय न मिलने पर भी उस लड़की ने इतना सुंदर लेख लिखा, यह देख मुझे उसके प्रति ईर्ष्या हुई। मैं यह उचित नहीं समझता था कि उसके हाथ का लिखा हुआ यह लेख कंपोज़ीटर के पास जाए। इसलिए मैंने उसकी अपने हाथ से नकल की। मैंने देवी के चले जाने की राह नहीं देखी और नकल किया हुआ वह लेख काका को पढ़ने को दिया।

उसे पढ़कर वे बोले, "शाबाश श्रीनिवास, तुम इतना सुन्दर लिख लोगे, ऐसा मैंने कभी नहीं सोचा था।"

मैंने लज्जा से गरदन झुका ली। काका को लगा, यह मेरी विनम्रता है। परन्तु अन्दर की बात जैसी उस सर्वसाक्षी देव को मालूम थी, उसी तरह मेरे सामने बैठी हुई देवी को भी मालूम थी।

देवी ने मेरी ओर देखा और मैंने देवी की ओर। उसने कुछ इस अदा से मेरी ओर देखा था कि उसके उद्देश्य का मुझे कोई अंदाज़ न लग पाया। क्या वह नाराज़ हो गई थी? क्या उसके मन में यह आया था कि काका से मुझे साफ-साफ कह देना चाहिए था कि वह लेख मैंने नहीं, बल्कि देवी ने लिखा है। कुछ भी हो, पर मेरे मन में थोड़ी-सी हलचल ज़रूर मच गई थी।

काका ने लेख पढ़ा और उसे मेरी मेज़ पर रख वे बाहर चल दिए। देवी अभी वहीं बैठी थी।

मैंने देवी से कहा, "तुम नाराज़ तो नहीं हो गई?"

देवी हंसी, ठीक 'उसी तरह' हंसी, जिस तरह के उसके हास्य के कारण मेरे हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो जाया करते; उसी प्रकार का हास्य इस समय उसने मेरी आंखों के सामने उपस्थित किया था।

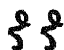
देवी बोली, "हमारी सम्मिलित ज़िम्मेदारी शुरू हुई है। कौन-सा लेख किसने लिखा है इसका हमें उल्लेख नहीं करना चाहिए। आज से हम यही तय कर लें। तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

"मतलब ?" मैंने कहा, "तो क्या आज से सभी लेख तुम ही लिखा करोगी, और मैं उन लेखों की नकल करके उन्हें कंपोज़ीटरों को दिया करूंगा ?"

"यह मैंने कहां कहा ?" देवी बोली, "मेरी शर्त सिर्फ इतनी ही है कि अखबार के लिए हम दोनों ही लेख लिखा करेंगे। पर लेख के नीचे हममें से किसीका भी नाम नहीं होना चाहिए, क्योंकि अखबार के संपादन के लिए हम दोनों ही ज़िम्मेदार हैं। यदि तुम्हें यह स्वीकार हो तो बताओ, क्योंकि इस शर्त के निभाने पर ही सम्मिलित ज़िम्मेदारी शुरू हुई समझी जाएगी।"

"मुझे यह शर्त स्वीकार है।" मैंने आनन्दपूर्वक कहा।

मेरी इस उत्साह-भरी स्वीकृति को सुनकर देवी पुनः 'उसी तरह' हंसी।



'सच्चा हिन्दू' का पहला अंक प्रकाशित हुआ। उसे देखकर हम सबको बड़ी खुशी हुई। विषयों की योजना बड़ी सुसंबद्ध हुई थी। बम्बई और पूना के समाचारपत्रों में उन दिनों प्रकाशित हुए प्रायः सभी नवमतवाद-समर्थक लेखों को उसके किसी न किसी लेख या टिप्पणी में काफी फटकारा था। पर उसमें विशेष महत्त्व का लेख था—'खिलती कली' उपन्यास पर की गई आलोचना।

यह समालोचना देवी ने लिखी थी।

इस समालोचना को पढ़कर मैं तो दंग ही रह गया। उस पुस्तक के एक-एक वाक्य, एक-एक पैरा और एक-एक दलील को लेकर देवी ने उस पुस्तक की धज्जियां उड़ा दी थीं।

उस बेचारे लेखक पर मुझे तरस हो आया। मुझे लगा, इस आलोचना को पढ़ने के बाद वह एकदम मूर्छित होकर गिर पड़ेगा, पुनः कोई पुस्तक लिखने की हिम्मत ही नहीं करेगा; और अगर लिखी भी तो कम से कम ऐसी पुस्तक तो कभी न लिखेगा।

पर लेखक एक नम्बर का बेशर्म था। यह 'कृष्णाजी बलवन्त' कहां का कौन था सो भगवान जाने, पर अंक के प्रकाशित होने के बाद चौथे ही दिन मुझे उसका पत्र मिला।

पत्र में उसने लिखा था—"आपके अंक में प्रकाशित समालोचना पढ़ी। यह देखकर कि आपने मेरी पुस्तक का अध्ययन इतनी बारीकी से किया, मुझे अपार हर्ष हुआ। विरोध ही क्यों न हो, पर यदि वह सुसंबद्ध रीति से किया गया हो तो किसी भी प्रामाणिक लेखक को उस विरोध से खुशी ही होती है। मेरी इच्छा है कि आपकी समालोचना में उठाए गए प्रश्नों का मैं जवाब दूं और मेरा उत्तर आप अपने पत्र में प्रकाशित करने की कृपा करें, जिससे पाठकों को समालोचना और उसका उत्तर एक ही पत्र में देखने को मिल जाएगा। इससे जितना मुझे संतोष होगा उतना ही मेरा ख्याल है आपके पाठकों को भी होगा। यदि आपके पत्र का समीक्षा-लेखक मेरे पत्र का कोई उत्तर देना चाहे तो दे सकता है और अपने उस उत्तर को यदि वह मेरे उत्तर के नीचे छपाना चाहे तो मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

मैंने यह पत्र जब देवी को दिखाया तो वह हंसी, पर 'उस तरह' नहीं हंसी। थोड़ा-सा होंठ चबाकर हंसी। मुझे लगा, लेखक की बेशर्मी देखकर उसे उससे घृणा हो गई होगी।

"क्या सोचती हो तुम?" मैंने प्रश्न किया।

"सोचना क्या है?" देवी चिढ़कर बोली, "लेखक बड़ा बेशर्म मालूम होता है। ऐसे निर्लज्ज मनुष्य का उत्तर हम क्यों छापें? उसे लिख दिया

जाए कि उसका उत्तर छापने को हमारे पास स्थान नहीं।"

"मैं सोचता हूं," मैंने ज़रा संभालकर ही कहा, "ऐसा करना ठीक नहीं होगा। क्या वह यह नहीं कहेगा कि हमने ज़बरदस्ती उसका मुंह दबाया? दूसरे पत्रों में वह अपना उत्तर भेज देगा और ऊपर से यह भी लिख देगा कि उसके उत्तर को 'सच्चा हिन्दू' ने छापने से इंकार कर दिया। उसका उत्तर बम्बई या पूना के किसी भी नवमतवादी पत्र में फौरन छप जाएगा। फिर हमारी पोज़ीशन क्या होगी, इसका भी हमें विचार कर लेना चाहिए। इससे बेहतर तो यही होगा कि उससे हम उसका उत्तर मंगवा लें और उसके उत्तर का उत्तर भी लिखें और दोनों आगामी किसी अंक में हम छाप दें। इसमें हमारी महानता ही सिद्ध होगी।"

"तुम जो चाहो कर सकते हो।" देवी ने तुच्छता से कहा, "तुम संपादक हो और अपनी ज़िम्मेदारी को अच्छी तरह पहचानते हो।"

काका नज़दीक ही कुर्सी पर बैठे कुछ पढ़ रहे थे। हमारी बातों की ओर जब उनका ध्यान गया तो बोले, "यह क्या गड़बड़ है जी?"

मैंने वह पत्र उन्हें दिखाया। उसे पढ़कर वे बोले, "ठीक तो है। आने दो उसका उत्तर। अबकी बार और अच्छी तरह फटकारना उसे, देवी! समझी?"

देवी ने मेरी ओर देखा। मैंने गरदन हिलाकर ही अपनी सम्मति दी। पर देवी ने काका से कहा, "आपकी आज्ञा का पालन मैं करूंगी; पर मुझे लगता है कि उसका उत्तर अपने पत्र में छापना ठीक नहीं। क्या इसका यह मतलब नहीं होगा कि हमीं उसका प्रोपेगेंडा कर रहे हैं?"

"यह मतलब कैसे होगा?" काका कुर्सी पर हाथ पटककर बोले, "हमें उसके पत्र का जहां के तहां अच्छा मुंहतोड़ जवाब दे देना चाहिए। उसकी सारी दलीलें काट देनी चाहिए। फिर प्रोपेगेंडा का कहां डर रहा?"

"जैसी आपकी मर्ज़ी।" कहकर देवी अपने काम में लग गई।

काका को मेरा विचार जंच गया, इसका मुझे जितना आनन्द हुआ, उतना ही देवी को वह नहीं जंचा, इसका दुःख हुआ।

मैं चाहता था कि इस विषय में उससे काफी चर्चा करूं, परन्तु अधिक

स्वतन्त्रता से बोलना वहां सम्भव नहीं था क्योंकि सामने काका बैठे थे।

"उस 'कृष्णाजी बलवन्त' को मैंने पत्र लिखा। जब वह पत्र देवी को दिखाया तो उसे न पढ़कर ही उसने वह मुझे लौटा दिया और बोली, तुम्हारा जी चाहे सो करो; मैं हुक्म की ताबेदार हूं। मुझसे कहा है—लिखो, मैं लिख दूंगी। पर मान लो, उसने ऐसी दलीलें पेश कीं जिनका मैं उत्तर न दे सकूं, तब तुम क्या करोगे?"

मेरे सामने प्रश्न खड़ा हुआ। हां, यह तो सच है। उस पत्र में जो भी दलीलें होंगी उन्हें काटने की शक्ति मेरी लेखनी में नहीं थी इसका मुझे विश्वास था, और जब देवी ही इस तरह निरुत्साहित होने लगी तो किसके ज़ोर पर मैं उसे यह चुनौती दूं?

मैंने कहा, "तुमने उस पुस्तक का अच्छा अध्ययन किया है। उसपर काफी सोचा है। इसलिए मुझे पूरा विश्वास है कि तुम उसकी दलीलों का उचित उत्तर दे सकोगी।"

उसने मेरी ओर देखा—खूब टकटकी लगाकर देखा। उसकी उस टकटकी से मेरे संपूर्ण शरीर में एक मीठी-सी सिहरन कौंध गई।

अब अलबत्ता वह 'उसी तरह' हंसी। हंसते समय उसकी भौंहें जिस समय ऊपर उठीं, उस समय मैं कुछ घबराया-सा हो गया। पहले उसकी भौंहें इस तरह ऊपर कभी नहीं उठती थीं।

उसने भौंहें उठाकर गरदन टेढ़ी की और एकटक मेरी ओर निहारते हुए कहा, "क्या तुम्हें सचमुच ऐसा लगता है? क्या सचमुच मेरी इतनी योग्यता है?"

उन उद्‌गारों में मूर्तिमान माधुर्य था।

मैंने काका की ओर देखा। क्या ये उद्‌गार उनके भी कानों में पड़े होंगे? और क्या उन्होंने भी बिना उसकी ओर देखे सिर्फ उसके उद्‌गारों से ही वह माधुर्य उस समय महसूस किया होगा?

निर्विकार चेहरे से काका 'टाइम्स' पढ़ रहे थे।

मैंने पत्र पर हस्ताक्षर किए और कहा, "लो देवीजी, यह चला पत्र!

अब तुम हो और 'कृष्णाजी बलवंत' है। दोनों आपस में निपटते रहना!"

चार-पांच दिन के बाद 'कृष्णाजी बलवंत' का लेख आया। उसे पढ़कर मेरा कलेजा बैठ गया। बड़ा ही विकट लेखक था वह, इसमें शक नहीं। वेद, पुराण, स्मृति और उपनिषद् इन सबकी जड़ को ही उसने हाथ लगाया था। अपनी कथावस्तु की विभिन्न घटनाओं और प्रसंगों का समर्थन करने के लिए उसने जो दलीलें पेश की थीं, वे सब इन्हीं प्राचीन ग्रंथों पर आधारित थीं।

उस दिन देवी आफिस नहीं आई थी। मैंने वह लेख काका को दिखाया। उसे पढ़ते ही काका आगबबूला हो गरज उठे, "कैसा हरामा है यह लेखक! पुराणों की कथाओं के आधार देता है? वे कथाएं क्या आज के ज़माने को लागू हो सकती हैं? उस मूर्ख के ध्यान में इतनी छोटी-सी बात नहीं आई कि वह ज़माना ही दूसरा था। उस समय के लोग भी भिन्न थे। उस ज़माने के मनुष्य की ताकत अब है क्या तुममें? उस ज़माने के अगस्त्य एक आचमन में पूरा समुद्र पी गए थे। अब एक हौज़ पानी भी तुम एक आचमन में पी सकोगे क्या? अगस्त्य के सामने विंध्याचल पर्वत आड़ा पड़ गया था और तुम मिट्टी के एक बमीठे को भी अपनी लात से नहीं गिरा सकोगे। इस ज़माने में ऋषि-मुनियों की कथाओं का हवाला देने में क्या तुक? तुम्हारा आज का क्या है वह बताओ। स्वैराचार के लिए हमारे ऋषि-मुनियों के आधार इन्हें खूब याद आते हैं! पर उसमें जो तत्त्वज्ञान भरा है वह इन्हें दिखाई नहीं देता···"

काका की ज़बान लगातार चल रही थी। बार-बार वे उस पत्र को पढ़ते थे और बार-बार बड़बड़ाते थे; और मैं चुपचाप यह देख रहा था कि उनकी बड़बड़ से कहीं ऐसे कोई मुद्दे मेरे हाथ लग सकते हैं क्या, जिनके आधार पर मैं उस लेख का मुंहतोड़ जवाब दे सकूं। परन्तु निराशा ही मेरे हाथ लगी। काका सिर्फ गालियां दे रहे थे।

शाम को मैं घूमने गया। मुझे लगा शायद देवी से मुलाकात हो जाएगी।

पर उस दिन एक भी लड़की वहां नहीं आई थी। मैं बार-बार सब तरफ निगाह फेंककर देख रहा था। साथ में कुछ मेमों को लिए एक-दो गोरे सोल्जर्स घूम रहे थे। उन्हें देखकर मुझे जलन हुई। काश, हम लोग भी इसी तरह औरतें बगल में लेकर घूमते।

ये कैसे वाहियात विचार मेरे मन में आ रहे हैं? एक तरफ और मेरी नज़र गई। एक ईसाई जोड़ा उसी तरह जा रहा था, बिलकुल हाथ में हाथ डाले, एक-दूसरे से सटे हुए।

ये कोई विलायत के रहनेवाले नहीं थे, हमारे देशी ही थे। पाश्चात्य लोगों की सोहबत से हिन्दी लोगों की भी यह कैसी दुर्दशा हो रही है!

जेब से कृष्णाजी बलवंत का लेख निकालकर मैं पढ़ने लगा। जब मैंने उसे पढ़ा तो लगा कि उसे न छापूं। दलीलें तो बिलकुल निरपवाद थीं। आखिर देवी भी इसका क्या जवाब देगी?

"क्या पढ़ रहे हैं जनाब?" किसीके शब्द मेरे कानों में पड़े। मैं चौंक पड़ा और पीछे मुड़कर देखा तो गंगाधरराव खड़ा था।

"आप तो खूब ही चौंके! क्या कोई प्रेम-पत्र पढ़ रहे थे?"

"प्रेम-पत्र?" मैंने ज़ोर से कहा, "प्रेम-पत्र नहीं, पर उससे भी अधिक भयंकर लेख है यह। हमारे 'सच्चे हिन्दू' में 'खिलती कली' पर जो समीक्षा आई थी वह तुमने पढ़ी थी न? यह उसीका जवाब है जो उस पुस्तक के लेखक ने भेजा है हमारे पास।"

"तो क्या उसे पढ़कर आपकी घिग्घी बंध गई?" गंगाधरराव बोला।

"नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं!" मैंने ज़रा सावधानी से उत्तर दिया, "पर हां, यह ज़रूर सच है कि उत्तर देना कुल मिलाकर कुछ कठिन ही होगा। वह लेखक बड़ा वाहियात दिखता है बेटा! मैंने सोचा था कि यह लेखक आधुनिक विचारोंवाला होगा। पर उसने वेद, उपनिषद और पुराणों का भी अच्छा अध्ययन किया है ऐसा लगता है। अपने मतों के समर्थन के लिए उसने इन प्राचीन ग्रंथों से पर्याप्त उदाहरणों की सूची पहले से ही प्राप्त कर ली है इसमें शक नहीं।"

"आप क्यों व्यर्थ इस बहस में पड़े हैं !" गंगाधरराव बोला, "आपके सिर पटकने से कुछ नहीं होगा। जब बहुमत का प्रवाह किसी विषय की ओर मुड़ पड़ता है तो मुट्ठी-भर आदमी उसे किसी तरह नहीं रोक सकते।"

"बहुमत का प्रवाह ?" मैंने चिढ़कर कहा, "बहुमत कहां है यह जानते हैं आप ? आज जो यह नवमत का प्रवाह आरम्भ हो गया है, वह सिर्फ एक खेल है। पाश्चात्य संस्कृति से चकाचौंध होकर आप जैसे चार युवक नवमतवाद की कुछ बातें करने लगे हैं। इसके परे इस वाद का और कोई महत्त्व नहीं। लेकिन यह विष-वीज है। इसका आगे फैलाव न हो, इसलिए समय पर ही उसका विरोध करना चाहिए और सिर्फ इसीलिए हम उसकी चर्चा करते हैं..."

"हां ! हां ! हां ! हां ठहरो।" गंगाधरराव बोला, "आपका यह ख्याल कि बहुमत आपकी तरफ है, मेरी दृष्टि से गलत है। पुरातनपंथी लोगों की संख्या जितनी दिखती है उतनी बड़ी नहीं है और नवमतवादी लोगों की संख्या जितनी मालूम होती है उतनी कम नहीं है। इस वाद में यही मुख्य बात है। जैसे-जैसे ऐसी पुस्तकें प्रकाशित होती जाएंगी और उन्हें आकर्षक बनाने के लिए जैसे-जैसे अधिक कलात्मक प्रयत्न किए जाएंगे, वैसे-वैसे नये मतों का प्रचार कितने ज़ोरों से हो रहा है, इसका पता चल जाएगा। इसके बाद अलबत्ता आप जैसे पुराणपंथी लोग सिर्फ अंगुलियों पर गिने जाने के बराबर ही रह जाएंगे।"

"इसीलिए तो हम इतनी छाती पीट रहे हैं।" मैंने कहा, "हम अपनी संख्या को हरगिज़ कम न होने देंगे। नवमतवादी जिस जोश से अपने मतों का प्रचार कर रहे हैं उसके दुगुने जोश से हमें उनके कदम रोकने होंगे और वही हम कर रहे हैं..."

"ठहरिए !" गंगाधरराव शान्ति से बोला, "आप छाती पीट रहे हैं, यही सच है। आपको स्वयं विश्वास है कि आप कहीं भूल कर रहे हैं और इसीलिए अपने प्रयत्नों को आप छाती पीटना कहते हैं। छाती पीटने से काम नहीं होते। नवमतवाद का आप जितना अधिक विरोध करेंगे उतने ही

अधिक पैमाने पर वह लोगों में फैलेगा। नये प्रचार को रोकने का, उसे खत्म कर देने का तरीका सिर्फ एक है और वह यह कि उसका कोई उल्लेख ही न किया जाए—अनुल्लेख से ही उसे मारना! जितना अधिक विरोध करोगे, उतने ही अधिक लोग उस पंथ के अनुयायी बनेंगे। पुस्तक का विरोध हुआ इसीलिए शेषगिरराव ने वह पुस्तक पढ़ी। विरोध हुआ इसीलिए आपके काका ने वह पुस्तक पढ़ी। विरोध हुआ इसीलिए ऐसी पुस्तक को कभी स्पर्श भी न करनेवाली देवी जैसी सुशील और कुलीन लड़की ने भी वह पुस्तक सिर्फ पढ़ी ही नहीं, बल्कि उसपर लेख लिखने को भी वह प्रवृत्त हुई…"

"आपसे किसने कहा कि वह लेख देवी ने लिखा था?" मैंने एकदम चौंककर पूछा।

"मुझसे किसीने कहा नहीं—मैंने सिर्फ अन्दाज़ से ताड़ा। उसने जो दलीलें पेश की थीं, उनसे मैं परिचित था। एक बार वासन्ती और देवी के बीच उस पुस्तक के विषय में चर्चा हो रही थी और उस चर्चा में वे सब दलीलें आई थीं। संयोग से उस समय मैं भी वहां हाज़िर था।"

यह कहते समय गंगाधरराव कुछ लज्जित-सा हो रहा था, ऐसा दिखाई दिया।

मेरे सामने सवाल खड़ा हुआ—यह शख्स यूं लज्जित क्यों हुआ? किसके प्रति उसके हृदय में यह गीलापन है? क्या देवी के प्रति?

मुझे लगा, नहीं। कम से कम मैंने अपने मन को विश्वास दिलाया कि नहीं।

"आप उस वक्त वहां क्यों हाज़िर थे?" मैंने पूछा।

"वासन्ती को पढ़ाने मैं उसके घर जाता हूं, यह शायद आप नहीं जानते?"

"अच्छा. यह बात है? तो उस समय क्या चर्चा हो रही थी?"

"उस पुस्तक की बात निकल पड़ी थी। वासन्ती उस पुस्तक का समर्थन कर रही थी और देवी जितना संभव था उतनी सुसंबद्ध रीति से उस पुस्तक

का विरोध कर रही थी। उनकी बातों में मैंने भाग नहीं लिया था। परन्तु देवी की विचारसरणी को देखकर उसके प्रति मेरे मन में सराहना और आदर के भाव जाग उठे। वह विरोध कर रही थी सही, पर उसका विरोध बड़ा प्रामाणिक और प्रभावशाली था। देवी के प्रति मुझे बड़ा अभिमान हुआ, मन ही मन मैंने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।"

नये-नये विशेषण लगाकर वह देवी की प्रशंसा कर रहा था।

प्रशंसा करने में अतिरंजन हो रहा है, ऐसा मुझे लगने लगा। उसकी बातों का भावार्थ मेरे कानों में आ रहा था। वे शब्द मेरे कानों के पास से भाग रहे थे···मेरा मन एक अलग ही संशय के पीछे लग गया था।

बातें करते-करते हम वहां से निकलकर घर आए। विषय की चर्चा वहीं तक रही।

परन्तु मुझे विचार करने के लिए एक नया कारण पैदा हो गया। गंगाधरराव की वृत्ति का अर्थ मैं समझ नहीं पा रहा था। किसपर थी उसकी नज़र?

उसे पुरातनपंथी देवी के प्रति इतना आदर क्यों दिखाना चाहिए? पुराणपंथी लोगों से गंगाधर को घृणा थी—देवी के मत कट्टर पुराणपंथी थे; इसके बावजूद उसके हृदय में देवी के प्रति इतना आदर उत्पन्न क्यों हुआ?

आदर और प्रेम, दोनों में कितना अंतर होता है!

मैं अपने-आप ही हंस पड़ा। प्रेम! प्रेम! प्रेम! की भावना ही मूलतः झूठ है। यदि शारीरिक आकर्षण हो तो मतभेद उसके आड़े नहीं आता।

यह विचार मेरे मन में आया ही था कि मैं व्याकुल हो उठा।

उस रात मेरी आंखों में नींद कहां?

१२

दूसरे दिन देवी आफिस नहीं आई। अंक की तैयारी जोरों से हो रही

थी। देवी ने लेख लिखकर भेज दिया था। पिछले दो-तीन दिन वह आफिस क्यों नहीं आई, इसपर मुझे आश्चर्य हुआ।

मैं कभी किसीके घर नहीं जाता था। पर उस दिन वासंती के घर गया। मुझे विश्वास था कि देवी वहां मिलेगी और वह वहां मिली भी। देवी को वासंती के घर बैठी देख मुझे क्रोध हो आया। इससे पहले जब भी वह वासती के घर जाती थी, तब इस विषय में मुझे कुछ न लगता था। परन्तु आज जो क्रोध आया उसका कारण यह था कि गंगाधरराव भी वहां था और तीनों ही बड़े ज़ोर-ज़ोर से गप्पें लगा रहे थे। मुझे देखते ही उनकी गप्पें बन्द हो गईं।

मुझे शक हुआ, ये लोग कहीं मेरे ही बारे में तो बातें नहीं कर रहे थे?

मैंने देवी से कहा, "तुम्हें अपने अखबार की भी कोई चिन्ता है या नहीं? आज तीन दिन हुए तुम आफिस नहीं आई। उस 'कृष्णाजी बलवंत' का एक लंबा पत्र आया है। उसका जवाब देना है और उसे इसी अंक में प्रकाशित करना है।"

देवी बोली, "तो वह पत्र तुमने मेरे पास क्यों नहीं भिजवा दिया? मेरे पास भेज देते तो मैं उसका जवाब लिखकर तुम्हारे पास पहुंचा देती!"

मैंने उत्तर दिया, "मैं क्यों भिजवाता? तय तो यह हुआ है कि तुम्हें आफिस में आकर ही लेख लिखना चाहिए। तुम आफिस आतीं तो वह लेख मैं तुम्हें देता। हम दोनों उसपर चर्चा करते और फिर उसका उत्तर लिखा जाता। वह उत्तर चाहे तुम लिखतीं या मैं लिखता।"

जहां तक सम्भव था वहां तक वासंती और गंगाधरराव के सामने अपना बड़प्पन प्रस्थापित करने का मैं प्रयत्न कर रहा था।

मेरी इस वृत्ति को देख देवी को कुछ बुरा लगा इसमें शक नहीं। उसके माथे पर शिकनें खिंच गई थीं। उसने गरदन झुका ली थी। यह देख कि वह कुछ भी नहीं बोल रही है, मैंने कहा, "कम से कम मुझे खबर तो भेज देनी थी कि तुम आफिस न आ सकोगी। अगर ऐसी खबर मुझे मिल जाती तो मैं लेख शायद भेज भी देता तुम्हारे पास।"

मेरी आवाज़ कुछ नीचे गिरी देख देवी बोली, "इतनी जल्दी क्या है? इस अंक में नहीं तो अगले अंक में छाप देंगे, वरना ऐसा भी हो सकता है कि उसका पत्र इस अंक में छाप दो और हमारा उत्तर अगले अंक में चला जाएगा।"

"छि! छि! यह नहीं होगा!" मैंने अधिकार-भरी वाणी में कहा, "जिस अंक में उसका पत्र छपेगा उसी अंक में हमारा उस पत्र का उत्तर भी छपेगा। दोनों एकसाथ एक ही अंक में छपेंगे। उसका पत्र यदि इस अंक में हम छाप दें और अपना उत्तर दूसरे अंक में छापें तो होगा यह कि उसके पत्र का प्रभाव पाठकों के मन पर इतना ज़बरदस्त पड़ जाएगा कि हमारे उत्तर की दलीलों की ओर कोई ध्यान ही नहीं देगा। इसलिए जहां पत्र, वहीं उसका उत्तर, यही सच्ची पत्रकारिता है!"

हमारी बातचीत के समय वासंती और गंगाधर बिलकुल स्तब्ध थे। मेरी मुद्रा से शायद उन्हें यह लग रहा होगा कि मैं चिढ़ उठा हूं। मैंने एकदम मुड़कर उन लोगों से कहा, "माफ करना भई! हम ज़रा बिज़नेस की बातें कर रहे हैं। आप लोगों की बातचीत में मेरे आ जाने के कारण यदि कोई विघ्न आया हो तो मैं चला जाता हूं।"

"नहीं, नहीं! ऐसी कोई बात नहीं।" वासंती बोली, "हम तो यूंही इधर-उधर की फालतू गप्पें हांक रहे थे।"

"फालतू गप्पों के लिए क्या देवी यहां आकर बैठती है?" मेरे प्रश्न में चुभन थी, "आप लोग जानते हैं कि उसपर एक गंभीर ज़िम्मेदारी है। अपनी उस ज़िम्मेदारी की ओर ध्यान न दे, वह यहां आकर आप लोगों की फालतू गप्पों में शरीक होती है और आप इसके लिए उसे प्रोत्साहन देते हैं? क्या यह कोई अच्छी बात है? कितनी प्रतिकूल परिस्थिति में हमने यह अखबार निकाला है यह आप शायद न जानते हों, पर देवी जानती है। उसे इस ज़िम्मेदारी को पूरी तरह ईमानदारी से निभाना होगा। हमारी हंसी हो इसके लिए प्रायः सभी बिलकुल टपे बैठे हैं। उन्हींमें से एक आप भी न होंगे यह हम कैसे कह सकते हैं? इसीलिए मैं देवी से कहता हूं कि उसे अपनी ज़िम्मेदारी की इस तरह उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इधर-

उधर की बेकार की गप्पों के लिए अपनी ज़िम्मेदारी को भुला देना कम से कम देवी जैसी विदुषी लड़की को शोभा नहीं देता।"

मैं बिलकुल एक बुजुर्ग की शान लाकर बोल रहा हूं, ऐसा स्वयं मुझे ही लगने लगा था। गंगाधर और वासंती एक-दूसरे की ओर आंख से इशारे कर रहे थे, पर देवी अलबत्ता बिलकुल गंभीर होकर स्तब्ध बैठी हुई थी।

"अच्छा तो अब विदा होता हूं," ऐसा कहकर जब मैं जाने लगा, तो वासंती बोली, "ऐसी क्या जल्दी पड़ी है आपको? थोड़ी देर बैठिए। कम से कम चाय पीकर जाइए। हम कुछ बातें करेंगे। किसी विषय पर चर्चा करेंगे। यदि कृष्णाजी बलवंत का पत्र आप अपने साथ लाए हों तो निकालिए, उसीपर चर्चा करें।"

अपनी पहली भूल का सुधार करने की गरज़ से मैंने जितना संभव था उतना शान्ति का अभिनय करके कहा, "हां, ऐसी कोई बात कीजिए। चर्चा सब कर सकते हैं। फिर वह चाहे समर्थन हो या विरोध हो। दोनों प्रकार की चर्चाओं से कुछ न कुछ लाभ हुए बिना नहीं रहेगा।"

"ठहरिए, मैं अभी आई!" कहकर वासंती घर में गई। देवी उसी तरह खामोश बैठी थी।

गंगाधरराव बोला, "कृष्णाजी बलवंत का पत्र साथ लाए हैं आप?"

"हां, हां। लाया हूं!" मैंने कहा, "देवी को भले ही कोई चिंता न हो, पर मुझे चिंता है यह दिखाने के लिए ही मैं वह पत्र अपने साथ ले आया हूं। मैंने सोचा था कि देवी को वह दे दूंगा। फिर वह जो भी उत्तर लिखना चाहे, लिखे।" इसके बाद मेरे मुंह से शब्द निकलनेवाले थे—'और फिर मैं उसके लेख में सुधार करूंगा।' परन्तु मैंने उन शब्दों को भीतर ही भीतर दबा दिया। जेब से पत्र निकाला और गंगाधर की तरफ फेंक दिया।

मुझे गुस्सा आ गया था, इसमें शक नहीं। मैं भीतर ही भीतर काफी धधक रहा था। समाचारपत्र के लिए मैं अकेला ही मर-मरकर काम करूं और देवी यहां बैठी फालतू गप्पों में अपना वक्त बरबाद करे! इसका क्या मतलब?

मैंने देवी की ओर मुड़कर भी न देखा। बार-बार लग रहा था कि देखूं—फिर भी मैंने देखने की कोशिश की, पर ऊपर छत की ओर ही देखता रहा।

गंगाधरराव वह पत्र पढ़ रहा था।

देवी बोली, "मन ही मन क्या पढ़ रहे हो? ज़रा ज़ोर से पढ़ो न, जिससे तुम्हारा पढ़ना भी होगा और मेरा सुनना भी होगा।"

"मुझे ज़ोर से पढ़ने की आदत नहीं।" गंगाधरराव बोला, "ज़ोर से पढ़ने में काफी वक्त खर्च होता है। जितना समय ज़ोर से पढ़ने में लगेगा उसके एक अष्टमांश समय में मैं यह लेख मन में पढ़ लूंगा।" ऐसा कहकर वह उसे फिर पढ़ने लगा।

पुनः सर्वत्र शान्ति फैल गई।

देवी बिलकुल स्तब्ध बैठी थी। इसी समय वासन्ती चाय लेकर आई। सबके सामने उसने चाय के प्याले रखे। चाय पीते समय भी गंगाधरराव उस पत्र को उत्सुकता से पढ़ रहा था। पूरी चाय पीते तक उस लेख को पढ़ चुका। पत्र की तह करता हुआ बोला, "लेखक बड़ा अध्ययनशील मालूम होता है, इसमें सन्देह नहीं। इस पत्र में उसने कहीं भी कोई अनुचित बात नहीं लिखी है। पूरे पत्र में कहीं भी गाली नहीं, कोई अपशब्द नहीं और कहीं भी असंगति नहीं। आपकी समीक्षा की हर बात उसने बड़ी सफाई से और बुद्धिमानी से काट दी है।" देवी ज़ोर से हंस पड़ी। गंगाधरराव आगे बोला, "हंसती क्यों हो? जब तक इसे पढ़ा नहीं है तभी तक तुम्हें हंसी आएगी। लेकिन पढ़ने के बाद तुम्हें पता चलेगा कि इस पत्र का समुचित उत्तर देना हंसी-खेल नहीं है।" इतना कहकर उसने वह पत्र देवी को थमा दिया।

मैं किसीकी ओर भी नहीं देख रहा था। मेरे मन में ऊटपटांग विचार आ रहे थे।

गंगाधरराव और देवी में इतनी मित्रता क्यों? सच पूछा जाए तो पत्र के बारे में उसे जो भी कहना था, मुझसे कहना चाहिए था। उसने वह देवी से क्यों कहा? पत्र का सम्पादक तो मैं हूं, देवी नहीं। गंगाधरराव की

यह हरकत मुझे बड़ी नागवार गुज़री। मुझे इसका बहुत बुरा लगा।

देवी और वासन्ती एक-दूसरी से बिलकुल सटी बैठी हुई वह पत्र पढ़ रही थीं। वासन्ती ने अपना एक हाथ देवी के कन्धे पर रख दिया था और दोनों बिलकुल गाल से गाल भिड़ाए वह लेख पढ़ रही थीं।

मुझे वासन्ती से ईर्ष्या हुई। एक कल्पना-चित्र मेरी नज़रों के सामने उभर उठा—वासंती के बदले अगर इसी स्थिति में देवी के साथ मैं वह पत्र पढ़ता तो···

गंगाधरराव बोला, "मेरा ख्याल है कि अब आप अपना 'सच्चा हिंदू' बन्द ही कर दें। इस लेख के प्रकाशित होने के बाद आपकी लेखनी मूक हो जाएगी। अपका सारा आधार वेदों, पुराणों और उपनिषदों आदि प्राचीन ग्रंथों पर ही है और इस पत्र के लेखक ने आप ही के इन हथियारों से आपकी सारी दलीलों को बड़ी खूबी से काट दिया है। यदि उसने इसी प्रकार के एक-दो लेख और लिखे तो आपकी खैर नहीं। आपकी सारी दलीलों और पुरातन बातों के प्रति आपके सारे अभिमान को धराशायी होने में एक क्षण का भी समय न लगेगा।"

"तुम्हारे उपदेश की मुझे ज़रूरत नहीं। हम अपना खुद देख लेंगे।" मैं एकदम बोल उठा, "अपने अभिमान को किस तरह सुरक्षित रखना चाहिए, यह हम अच्छी तरह जानते हैं। तुम्हारे मार्गदर्शन की हमें ज़रूरत नहीं।"

पुनः सर्वत्र शान्ति छा गई। दोनों ही वह पत्र पढ़ रही थीं।

गंगाधरराव को मेरे उद्गार शायद चुभ गए थे। वह कुछ बेचैन-सा दिखाई दिया। बोला, "मैं अब जाता हूं। मुझे घूमने जाना है। शाम को जल्दी लौटकर दूसरी ट्यूशन पर भी हाज़िर होना है।"

देवी के हाथ का पत्र एक ओर हटाकर वासन्ती बोली, "ठहरो। इतनी जल्दी कहां जा रहे हो? हमें अभी बहुत बातें करनी हैं। इस पत्र पर चर्चा करनी है और उस चर्चा के वक्त तुम्हें भी यहां हाज़िर रहना चाहिए। कहीं मत जाओ, अभी यहीं ठहरो। एक दिन अगर न घूमे तो कोई बड़ा

नुकसान नहीं हो जाएगा तुम्हारा !"

गंगाधर कुछ न बोल चुपचाप नीचे बैठ गया। यह देख मुझे आश्चर्य हुआ। वासंती के शब्दों में हुकूमत की काफी झलक थी। कोई अफसर अपने मातहत कर्मचारी को जिस तरह हुक्म देता है उसी शान में उसने गंगाधर को बैठने को कहा था।

मेरे सामने अब पहेली खड़ी हुई—यह आखिर है क्या ? वासन्ती या देवी ?

इसी समय मालती वहां आई। दोनों ही पढ़ रही थीं, यह देख मालती ज़ोर से चिल्लाई, "यह क्या कर रही हो री ?"

"अरे वाह ! तू तो बड़ी नानी बनकर आई है हमें पूछने को !"

वासन्ती बोली, "हम लोग यहां एक बड़ा महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं।"

मालती ने उन दोनों के हाथ से वह पत्र छीन लिया और उसे दूर फेंक-कर बोली, "ऐसे बेवक्त भी कोई पढ़ता है ? यह वक्त घूमने का है। अपने महत्त्वपूर्ण काम फिर कभी करती रहना। घूमने को अगर देर हो गई तो लौटते समय हमें अंधेरा हो जाएगा···"

दूर फेंके गए पत्र को उठाकर पुनः हाथ में ले, देवी बोली, "मज़ाक का भी वक्त होता है, मालती ! यह क्या वाहियातपन कर रही हो ! सरासर देख रही हो कि मैं अपने अखबार का काम कर रही हूं, फिर भी यह हरकत ? ऐसे वक्त मुझे मज़ाक पसन्द नहीं।"

"बड़ी आई कहीं की सम्पादिका बाई।" मालती बोली।

'सम्पादिका बाई'—यह सम्बोधन सुनकर मुझे बड़ा अजीब-सा लगा। देवी सम्पादिका नहीं थी। सम्पादक था मैं। इसके बावजूद मालती ने देवी को सम्पादिका बाई क्यों कहा ? क्या मेरे साथ देवी का कुछ सम्बन्ध जोड़ने का उसका इरादा था ? या कि सम्पादक का स्त्रीलिंग रूप सम्पादिका होता है इसी अर्थ से उसने उसे सम्पादिका बाई कहा ?

देवी फिर पढ़ने लगी थी और वासन्ती उसी तरह उसके कंधे पर हाथ

रखे पढ़ रही थी। दोनों का ही पढ़ना करीब-करीब खत्म हो गया था।

पत्र को उसी तरह हाथ में रखे देवी मुझसे बोली, "कुल मिलाकर लेखक बड़ा वाहियात दिखता है। उसने हमें विकट उलझन में डाल दिया है। इसका उत्तर देते समय काफी सोचना पड़ेगा। आज रात मैं लिखने की कोशिश करती हूं। कल मेरा लेख तुम पढ़ लेना और उसके बाद जो भी तुम्हारे सुझाव हों वे मुझे बताना।"

मैं झट से उठा और 'ठीक है' कहकर किसीसे भी विदा न ले वासन्ती के घर से बाहर निकल पड़ा।

मेरे देहलीज़ के बाहर कदम रखते ही देवी जोर से हंस पड़ी। मुझे गुस्सा आ गया और उसी आवेश में मैं रेसकोर्स की ओर चल दिया।

मैं चाहता था कि लिखने से पहले देवी उस पत्र के मुद्दों पर मुझसे चर्चा करे। चर्चा के बाद भले ही स्वतन्त्र रूप से वह लेख लिखती तो मुझे कोई आपत्ति न थी।

लेकिन जब उसने स्वयं अपनी ही ज़िम्मेदारी पर लेख लिखने को कहा और वह भी गंगाधरराव के सामने कहा, तो मेरा मन उदास हो गया। हर जगह अपनी ही ज़िद चलाने की देवी की इस आदत पर मुझे क्रोध आ गया।

सम्पादक मैं था और सम्पादक की सम्पूर्ण ज़िम्मेदारी मुझीपर थी। देवी के किसी भी लेख को फेंक देने का मुझे अधिकार था। और तो और लेखक का जो पत्र आया था उसे भी फेंक देने का मुझे अधिकार था।

देवी को अपनी ज़िद इस तरह क्यों चलानी चाहिए? चार लोगों के सामने—मालती और वासन्ती के सामने—स्वयं अपनी अक्ल की शान दिखाने के लिए मेरी बेइज़्ज़ती उसे क्यों करनी चाहिए?

१३

मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि गंगाधरराव तथा वासन्ती आदि अब आएंगे। मैं प्रतीक्षा करते-करते थक गया, पर एक भी नहीं आया। किसीसे भी मेरी मुलाकात न हो पाई। मुझे लगा, मुझे टालने के लिए ही वे पीछे रह गए। मुझे बड़ा गुस्सा आया।

गुस्से में ही मैं घर लौटा। देखा तो कंपोज़ीटर ने बहुत-से प्रूफ लाकर मेज़ पर रख दिए थे। गुस्से में ही मैंने उन्हें सुधारा और छापेखाने भेज दिया। इसके पश्चात् खाना खाने गया।

दूसरे दिन सुबह जब आफिस पहुंचा तो देवी द्वारा लिखा गया लेख मेज़ पर रखा पाया।

पहले मेरे मन में आया कि उस लेख को पढ़ूं ही नहीं, क्योंकि उसे लिखने से पहले देवी ने मुझसे उसपर कोई चर्चा ही नहीं की थी। जो लेख मुझसे बिना चर्चा किए ही लिखा गया था उसे मैं क्यों पढ़ता? थोड़ी देर के बाद मेरे मन में यह भी आया कि बिना पढ़े ही उसे प्रेस में दे दूं। पर ऐसा करने से मेरी सम्पादकीय शान कहां रहती?

मैंने वह लेख पढ़ा। उसे पढ़कर मुझे कोई विशेष सन्तोष न हुआ। वह उतना ज़ोरदार नहीं था। पहली समीक्षा उसने जितनी सुसम्बद्ध रीति से लिखी थी, उतनी सुसम्बद्धता उसके इस लेख में न आ पाई थी। लेखक के उस पत्र का जितनी ज़ोरदार भाषा में उत्तर देना चाहिए था उतनी ज़ोरदार भाषा इस लेख में न थी। इस लेख में था बहुत-सा कोलाहल, अनेक गालियां और उसमें की कुछ दलीलों का मज़ाक उड़ाकर अपने पक्ष का समर्थन करने का असफल प्रयास!

मुझे लगा कि उस पत्र के बारे में गंगाधर और वासन्ती में जो चर्चा हुई थी वह देवी ने भी सुनी थी और उसी चर्चा का देवी के इस लेख पर प्रभाव पड़ा है। गंगाधरराव कट्टर नवमतवादी था। अपने पक्ष का समर्थन करते समय वह ऐसे तगड़े आधार दिया करता कि उन्हें काटना साधारण

मनुष्य के लिए बड़ा कठिन हो बैठता था। उसके उन्हीं तर्कों का देवी के मन पर प्रभाव पड़ जाने के कारण ही ऐसा लचर लेख लिखा गया है, ऐसा मुझे लगा।

मैंने वह लेख काका को दिखाया। काका ने उसे पढ़ा और वे भी उससे विशेष प्रभावित हुए नहीं दिखाई दिए। वे बोले, "उस पत्र में लेखक ने हमारे वेदों, पुराणों और उपनिषदों आदि से बहुत-से उदाहरण देकर नव-मतवादियों के आचार-विचारों का बड़ी सशक्त भाषा में समर्थन किया है। इसका जो जवाब देवी ने अपने इस लेख में दिया है वही कुल मिलाकर ठीक मालूम होता है। वर्तमान काल वेदकाल से बिलकुल ही भिन्न है। इसलिए उस काल के अतिमानवी मनुष्यों द्वारा किए गए अतिमानवी कृत्यों के उदाहरण इस काल में कैसे लागू हो सकते हैं? सिवा इसके अपने समर्थन में हम और कह ही क्या सकते हैं? देवी ने भी अपने लेख में यही कहा है।"

"हम ही यदि ऐसा करने लगें," मैंने डरते-डरते पूछा, "तो आर्य-संस्कृति के प्रति अभिमान की शान हम किस आधार पर बघार सकेंगे? आर्य-संस्कृति यानी पुराण-काल की संस्कृति। पुराण-काल में जो आचार-विचार थे वे आज पाश्चात्य संस्कृति के कारण छोड़े जा रहे हैं ऐसा जो आरोप हम नवमतवादियों पर करते हैं उसे साधार सिद्ध करने के लिए, उपनिषदों और पुराणों के आधारों के अतिरिक्त दूसरे कौन-से आधार हैं हमारे पास? यही अगर हमारे मार्ग में रुकावट पैदा करने लगें तो हम जिएंगे किस आधार पर?"

"इसे छोड़ो जी!" काका बोले," यह तो चलता ही रहेगा। देवी ने लिखा है वही ठीक है। उसीमें इधर-उधर और भी कोई सशक्त दलील दी जा सकती हो तो देख लो और दो-चार वाक्य और बढ़ाकर यही लेख छाप दो।"

काका की बात से मुझे सन्तोष न हुआ। मैंने दोनों लेख पुनः पढ़े और कागज़ लेकर लिखने बैठा।

बहुत-सा लिखकर पुनः पढ़कर देखा। पर मुझे फिर भी संतोष न

हुआ। पत्र की दलीलों को काटने के बजाय मैं उनका समर्थन कर रहा था।

मैंने देवी को बुलाने एक आदमी भेजा और पुनः लिखने लगा।

संतोषजनक रीति से कुछ लिख नहीं पा रहा था। अन्त में मन में निश्चय किया कि देवी के आने तक रुकूं। वह क्या कहती है उसे सुनूं। यदि वह न आई तो उसीका मूल लेख छापकर इस विषय की चर्चा ही अब बन्द कर दूं।

जिस समय बुलाया था उस समय देवी नहीं आई। दोपहर जब वह आई उस समय मैंने अपने विचार उससे कहे।

वह बोली, "इस विषय की अब अधिक बाल की खाल निकालने से कोई फायदा नहीं। जैसे-जैसे हम गहराई में अधिक घुसेंगे, वैसे-वैसे लिखना मुश्किल हो जाएगा। यह विषय बड़ा नाजुक है। मेरे पास भी आखिर ऐसी कितनी शक्ति है? पहली समीक्षा लिखी थी दबाव के कारण। घर में नवमतवादियों के बारे में चाचाजी के मुंह से जो चार बातें सुनती थीं, प्रायः वही सब बातें अपनी भाषा में मैंने उस लेख में लिख दी थीं। पत्र के उत्तर में क्या लिखूं, सच पूछा जाए तो इसीकी मुझे पहले मुश्किल पड़ गई थी। पर किसी तरह यह लेख लिख दिया है। मेरा खयाल है इसे ज्यों का त्यों छाप दो और नीचे यह सूचना लिखकर कि 'इसके बाद इसकी चर्चा बन्द कर दी है' छुट्टी पा लो।"

दूसरा कोई उपाय ही नहीं था।

अंक प्रकाशित हुआ और उसपर जहां-तहां चर्चा होने लगी।

'कृष्णाजी बलवंत' ने हमारे दांत झड़ा दिए ऐसा सब कहने लगे।

इतने पर ही बात खत्म हो जाती तो कोई हर्ज न था, पर इसी समय 'खिलती कली—भाग दूसरा' नामक दूसरा उपन्यास प्रकाशित होने के विज्ञापन जहां-तहां फड़कने लगे।

मेरा कलेजा धड़कने लगा। अब यह लेखक और क्या-क्या वाहियात बातें लिखनेवाला है? अब और कौन-कौन-से प्रचीन ग्रंथों को वह अपने इस नये उपन्यास में खाली करेगा? कितने वेदों और उपनिषदों का समुद्र-

मंथन करके अब कौन-कौन-से रत्न निकालेगा यह 'कृष्णाजी बलवंत' ?

खामोश बैठकर जो होगा उसे चुपचाप देखने का मैंने निश्चय किया। देवी की वृत्ति दिन-प्रतिदिन बदल रही थी। वह आफिस आती थी, लेख लिखती थी और विशेष यह कि वह उस तरह बिलकुल कभी हंसती ही नहीं थी। और वह हास्य देखने को मेरा मन व्याकुल हो उठा था। मुझे लगने लगा कि मुझे तंग करने के लिए ही क्या उसने यह गंभीरता जान-बूझकर धारणा की है ?

नित्य की भांति मैं घूमने जाता था। पर मुझे वह अब अच्छा नहीं लगता था। मालती भी उस ओर कभी फटकती न थी। कभी-कभार गंगाधरराव से बेशक मुलाकात हो जाती थी। पर सिवा नमस्ते के उससे कोई बात न होती थी क्योंकि उससे बातें करने की मनःस्थिति में मैं नहीं था।

गंगाधरराव के प्रति मेरे मन में द्वेष-भाव जाग उठा था। उसके साथ रहने के कारण ही देवी की वृत्ति में यह फर्क हुआ है, ऐसा मेरा मन कहने लगा और इस मामले की गहराई तक जाकर सच्ची बात का पता लगाने का मैंने मन ही मन निश्चय किया।

दूसरे दिन से रोज़ वासंती के घर जाने का मैंने निश्चय किया। पहली बार जिस समय मैं उसके घर गया, उस समय पहले की तरह ही मेरा खूब आदर-सत्कार हुआ। यद्यपि उस वक्त उस लेख के बारे में कोई चर्चा नहीं हुई, फिर भी 'सच्चा हिन्दू' पत्र की गंभीर नीति पर थोड़ी-बहुत चर्चा हुए बिना न रही। गंगाधरराव इससे पहले जितनी गंभीरता से बोला करता था उसकी वह गंभीरता उसकी अब की बातों में नहीं रही थी। उसकी बातों में अब बहुत-सा वाहियातपन, तानेबाज़ी और किसी न किसी प्रकार हमारे 'सच्चा हिन्दू' अखबार की खिल्ली उड़ाना, यही बातें प्रमुखता से दिखाई देती थीं।

चर्चा में मालती और वासंती भी भाग लेती थीं। मैं अकेले गंगाधर की बातें चाहे सुन लेता, पर ये स्कूल की छोकरियां भी मेरा मज़ाक उड़ाएं इसे मैं कैसे बरदाश्त कर सकता था ?

देवी भी वहां होती थी। पर जब मैं वहां पहुंच जाता तो वह चुप ही रहती। मेरे रहते वह चर्चा में भाग न लेती। बिलकुल गंभीर होकर किसी बुत की तरह निश्चल बैठी रहती। मेरे जाने का उद्देश्य कुछ सफल नहीं हो पा रहा था। जैसे-जैसे मैं वहां अधिक जाने लगा, वैसे-वैसे देवी और भी अधिक गंभीर होने लगी। उसने बोलना प्रायः बन्द ही कर दिया और आगे चलकर तो उसने वहां आना ही छोड़ दिया।

जब उसने ही वहां आना बन्द कर दिया तो फिर मेरे वहां जाने में क्या अर्थ था?

उसने आफिस आना भी बन्द कर दिया था। जब यह बात काका की नजरों में आई तो वे बोले, "क्यों रे श्रीनिवास, आजकल देवी आफिस क्यों नहीं आती? तू कहीं उससे लड़ तो नहीं पड़ा?"

"मैं कब लड़ता?" मैंने कहा, "आप जब यहां होते हैं तभी वह यहां आती है। जो भी उससे बातें होती हैं आपके सामने ही होती हैं। पर उसकी वृत्ति कुछ बदल गई है इसमें शक नहीं। कारण क्या है इसका मुझे भी कोई अता-पता नहीं चल रहा है।"

संयोग से उस दिन शेषगिरराव काका से मिलने आए थे। उनसे जब काका ने देवी के आफिस न आने का कारण पूछा, तो वे बोले, "देवी के आफिस आने की बात लोगों में फैल गई और सारा शहर उसे बदनाम करने लगा। इसलिए मैंने ही उसे आफिस आने से रोक दिया।"

"लोग उसे बदनाम करने लगे!" काका आश्चर्यचकित होकर बोले, "अरे, मैं जो यहां बैठता हूं! मेरे सामने ही जो भी उसे लिखना होता है वह लिखती है और चल देती है। ऐसा होते हुए भी लोग उसे बदनाम क्यों करते हैं?"

"आप यहां बैठे रहते हैं यह ठीक है," शेषगिरराव बोले, "पर लोगों को यह क्या मालूम? कोई आकर यहां देखता तभी तो उसे इसका पता चलता। लोग इतना ही जानते हैं कि अखबार की संपादिका होने के कारण अखबार का काम करने के लिए वह अखबार के दफ्तर में जाती है। इसी-

पर वे अपने अंदाज़ बांधते हैं और मनमाना कहते हैं। हम क्या किसीका मुंह पकड़ सकते हैं ? जब देवी ने मुझे यह बताया तो मैंने ही उससे कहा कि अब वह दफ्तर न जाया करे, घर ही लेख आदि लिखकर संपादक को भेज दिया करे। हालांकि यह सब मैंने अपने मन के विरुद्ध किया, पर ऐसी परिस्थिति में मेरे पास दूसरा कोई चारा ही नहीं रहा था।" थोड़ी देर रुककर शेषगिरराव काका से बोले, "आजकल देवी का विवाह जमाने में लगा हूं मैं।"

समाचारपत्र मुंह के सामने पकड़कर बातें करने का काका का तरीका था। इस समय भी वे उसी तरीके से बातें कर रहे थे। परन्तु देवी के विवाह की बात सुनते ही समाचारपत्र को एक तरफ हटाकर वे कुर्सी पर तनकर बैठ गए और शेषगिरराव की ओर एकटक देखते हुए बोले, "देवी के विवाह की बातें हो रही हैं ? रिश्ता कहां तय कर रहे हो ?"

"अभी कोई पक्का निश्चय नहीं हुआ है।" शेषगिरराव ने उत्तर दिया, "एक-दो रिश्ते देखकर आया हूं—मतलब यह कि एक-दो लड़के आकर लड़की को देख गए हैं।"

"अच्छा ?" काका बोले, "शायद इसीलिए आपने इतनी सावधानी बरती है। जो लड़के देखने आ रहे हैं, उनके कानों में कहीं यह बदनामी न जाए इसीलिए शायद देवी को आफिस आने से आपने मना कर दिया है ? क्यों जनाब, यही न ?"

"नहीं, सिर्फ यही एक कारण नहीं।" शेषगिरराव ने डरते-डरते उत्तर दिया, "पर दोनों संयोग एक ही साथ आए यह सच है। क्या आप यह नहीं सोचते कि देवी का विवाह इससे पहले ही हो जाना चाहिए था ?"

काका क्षण-भर के लिए स्तब्ध रहे।

"आप चुप हैं ? क्या आपको यह नहीं लगता कि हमारे परिवार की पुरानी परम्परा के अनुसार यदि देखा जाए तो विवाह की दृष्टि से देवी उम्र में अधिक बढ़ गई है ?"

हां कहने के लिए गर्दन हिलाकर काका बोले, "हां, लगता है। बिलकुल

हृदय से लगता है। पर सच बताऊं आपको शेषगिरराव, देवी की ओर देखता हूं तो उसकी योग्यता का लड़का अपनी जाति में कहीं मिलेगा, ऐसा कम से कम मुझे तो नहीं लगता। लड़की बड़ी होशियार है—सिर्फ होशियार ही नहीं, साधारण लड़कियों की अपेक्षा हर दृष्टि से बहुत ऊंचे दर्जे की है। आजकल के लड़कों को देखता हूं तो वे मुझे बिलकुल ही बुद्धू दिखते हैं। क्या ऐसे ही किसी बुद्धू लड़के के गले में आप देवी को बांधने जा रहे हैं?"

"यह तो आप कुछ भी कह रहे हैं, काका साहब!" शेषगिरराव बोले, "इससे पहले ही यदि उसका विवाह हो जाता तो हमें इसकी कल्पना ही न होती कि वह साधारण लड़की है या असाधारण है; और जिससे विवाह होता वह लड़का बुद्धू है या विद्वान है यह भी हम न जान सकते थे। हमने अक्सर यही देखा है कि विवाह हो जाने के बाद सब ठीक हो जाता है। उसी तरह देवी का भी हो जाता। गृहस्थी सुख की हुई होती। परन्तु मुझे इसीका दुःख हो रहा है कि मैंने लड़की को इतनी उम्र तक अविवाहित रहने दिया। कुछ भी हो, फिर भी मैं उसका चाचा हूं। मुझपर ज़िम्मेदारी आ गई है। यदि मैं उसे न पढ़ाता तो आप ही लोग मुझे बदनाम करते और अब जल्दी ही मैं उसका विवाह न करूं तो सब लोग मुझे फाड़ खाएंगे।"

काका चुप थे। शेषगिरराव की बातें सुनते समय मैं क्रोध से उबल उठा था। यह शेषगिरराव देवी का चाचा था। सारी जायदाद थी देवी के पिता की। मृत्यु के समय वसीयत में उन्होंने शेषगिरराव को ट्रस्टी नियत कर दिया था। लोग कहते हैं कि धीरे-धीरे इसीने सारी जायदाद छीन ली और अब यही उसका मालिक बनकर बैठ गया है और अपने सारे परिवार की उपजीविका देवी के पिता की जायदाद के भरोसे ही चला रहा है। इसके बावजूद यह मनुष्य यह दिखाने का प्रयत्न कर रहा था जैसे देवी अनाथ है और वह उसपर कोई बड़े उपकार कर रहा है। मुझे यह बात अभी तक मालूम नहीं थी, इसलिए मैं इस मनुष्य को एक अच्छा आदमी समझे हुए था। परन्तु अभी कुछ दिनों से, जब से मुझे सच्ची बात मालूम हुई है, इस मनुष्य के हर काम में मुझे कुछ न कुछ दोष दिखने लगा था। काका

स्तब्ध बैठे थे । क्या इसलिए कि उन्हें भी कुछ मुझ जैसा ही लग रहा था ?

"कहां-कहां के लड़के देख गए ?" काका ने पूछा ।

शेषगिरराव ने एक-दो नाम बताए। दोनों नामों से मैं परिचित न था। शायद काका उन लड़कों को जानते थे । वे बोले, "ये रिश्ते मेरे ख्याल से योग्य नहीं हैं ।"

"फिर आप किसका नाम सुझाना चाहते हैं ?" शेषगिरराव बोले ।

"यही तो मुश्किल है न !" काका कुछ सोचते हुए से बोले, "कितने ही लड़के मेरी स्मृति में हैं । पर जो देवी के योग्य हो ऐसा एक भी लड़का मुझे नज़र नहीं आ रहा है ।"

मैं भी कुछ कहूं ऐसा मेरे मन में आया था; पर काका के स्वभाव से परिचित होने के कारण मेरे मुंह से एक शब्द भी बाहर न निकला ।

मुझे लगा, कैसे भोले लोग हैं ये ! देवी के योग्य वर हाथ में रहते हुए भी वह उन्हें दिखाई नहीं देता ।

उस दिन मैं घूमने गया । मेरा मन बिलकुल उदास हो गया था । कोई मुझसे न मिले ऐसा मुझे लग रहा था । पर गंगाधरराव बेंच पर बैठा हुआ मुझे दीख पड़ा । उसे टालकर चल देना सम्भव नहीं था । इसलिए मैं भी उसीके पास जाकर बैठ गया । उसने सिगरेट जलाकर कश खींचना शुरू किया । उसे छेड़ने के लिए मैं उसके सिगरेट पीने को नाम धरने लगा ।

यद्यपि मैं जानता था कि जो कुछ मैं कह रहा था वह ठीक नहीं था, फिर भी किसी सिरफिरे की तरह मैं बके ही जा रहा था । पर गंगाधर मेरी सारी बातें हंसी में उड़ा रहा था । धीरे-धीरे सिगरेट की चर्चा एक ओर रह गई और नवमतवाद पर वार्तालाप शुरू हुआ ।

पुनः 'खिलती कली' की समीक्षा की बातें निकल पड़ीं । उसकी चर्चा हम शुरू कर ही रहे थे कि मालती, वासन्ती और देवी ये तीनों ही हमारे सामने आकर खड़ी हो गईं ।

१४

मालती के हाथ में एक पुस्तक थी। उस पुस्तक को मेरे सामने पकड़कर वह बोली, "आपने देखी यह पुस्तक ?"

मैंने देखा तो वह पुस्तक थी 'खिलती कली—भाग दूसरा !'

"इतनी जल्दी पुस्तक प्रकाशित भी हो गई, ग्रं ? बड़ा धड़ाका लगाया है उस लेखक ने लिखने का ! तुमने पढ़ लिया इसे ?"

मालती बोली, "हां, हां, मैंने पढ़ ली। वासन्ती ने भी पढ़ ली। आज देवी पढ़नेवाली है···"

बीच ही में देवी की ओर मुड़कर मैंने कहा, "क्या तुम भी पढ़ोगी ?"

"क्यों, क्या मुझे नहीं पढ़नी चाहिए ? कल अगर इसकी भी समीक्षा लिखनी पड़ी तो ?"

"फिर मेरे पास क्यों नहीं आई यह अभी तक ?" मैं जैसे अपने-आपसे ही कह रहा हूं, इस प्रकार कहा।

"आएगी, आएगी," गंगाधरराव बोला, "आपके पास भी आएगी। आप भी पढ़ेंगे और समीक्षा लिखने के लिए आपको भी उसपर सोचना पड़ेगा—उसका अच्छी तरह अध्ययन करना होगा। यदि निर्मल बुद्धि से उसपर विचार करोगे, अपने पूर्वाग्रह दूषित मन को थोड़ी देर के लिए एक ओर रखकर उसकी ओर देखोगे, उस समय आपको लगेगा कि 'कृष्णाजी बलवन्त' सरीखा लेखक मराठी में ही क्या, पर आज भारतीय भाषाओं में की किसी भी भाषा में नहीं हुआ।"

"यानी ? क्या आपने भी पढ़ी है यह पुस्तक ?" मैंने गंगाधरराव से पूछा।

"हां, पढ़ी है।" गंगाधरराव गंभीर होकर बोला, "मैंने पढ़ी और अपने सारे प्रिय विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों को पढ़कर सुनाई। इस लेखक की शैली ही कुछ अनोखी है। वह बहुत संक्षेप में लिखता है। पात्रों के स्वभाव को पहले से ही ठीक से निश्चित कर वह उसके अनुसार ही उनके मुंह से उतनी ही बातें कराता है, जितनी नितान्त आवश्यक होती

हैं। कौन-सा पात्र किस उद्देश्य से क्या बोला, इसका वर्णन करने की हमारे मराठी उपन्यासकारों की जो आदत है वह आदत 'कृष्णाजी बलवंत' में न होने के कारण उसकी पुस्तक का मज़मून ठीक से समझ में नहीं आता। सभी मराठी पाठक चाहते हैं कि उन्हें हर बात बिलकुल साफ-साफ बता दी जाए। मेरी मातृभाषा कन्नड़ है। मराठी हमारी मातृभाषा नहीं। इस प्रांत में मराठी की प्रधानता हो गई है इसलिए हम मराठी पढ़ते हैं और इसीलिए हमारा मराठी पढ़ना और अंग्रेज़ी पढ़ना दोनों समान स्तर के होते हैं। अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए हमें जितने कष्ट उठाने पड़ते हैं उतने ही कष्ट, उतनी ही तीव्र दृष्टि मराठी पढ़ने के काम में भी हमें लानी पड़ती है और इसीलिए हम कानड़ी लोगों को इस लेखक का लेखन जितनी अच्छी तरह समझ में आता है उतनी अच्छी तरह आपको भी न आता होगा, हालांकि मराठी आपकी मातृभाषा है। अब यही देखिए न, इस पुस्तक का पहला भाग जब प्रकाशित हुआ था, उस समय अनेक समाचारपत्रों और मासिक पत्रिकाओं ने पुस्तक की बड़ी प्रशंसा की थी। पर वह प्रशंसा इतनी मूर्खतापूर्ण थी कि उसे पढ़ने पर उस लेखक को समीक्षकों से घृणा ही हो गई होगी। किस उद्देश्य से कौन-सा प्रसंग लेखक ने नियोजित किया है, इसीका समीक्षा लिखनेवाले मूर्खों ने निष्कर्ष निकाला और फिर वे ही बेहूदी समीक्षाएं प्रकाशित हुईं..."

"पर हमारे 'सच्चा हिन्दू' की समीक्षा तो इस स्वरूप की नहीं थी न?"

"सिर्फ वही एक समीक्षा ऐसी थी जो समीक्षा के नाम को सार्थक करती थी।" गंगाधरराव ने अभिमान से कहा।

मुझे लगा देवी को खुश करने के लिए यह बदमाश आदमी समीक्षा की तारीफ कर रहा है। वह समीक्षा देवी ने लिखी थी यह शायद इसे मालूम हो गया होगा।

"वह समीक्षा किसने लिखी थी, यह आप जानते हैं क्या?" मैंने पूछा।

"हां, जानता हूं।" गंगाधरराव बोला, "इतनी विचक्षण बुद्धि से आपने वह समीक्षा लिखी होगी ऐसा मुझे नहीं लगा। उसमें पुस्तक का ज़ोरदार शब्दों में विरोध किया गया था, यह सच है; पर विरोध करते समय भी मूल कथानक का रस-ग्रहण जिस सौन्दर्य से किया था, उसे देखकर, वह लेख विरोधात्मक होते हुए भी मुझे बहुत पसंद आया।"

मैं उलझन में पड़ गया। क्या स्वीकार कर लूं कि समीक्षा देवी ने लिखी थी, मैंने नहीं ? देवी कुछ बोल नहीं रही थी। मैंने उसकी ओर निगाह फेंकी, पर उसने मेरी तरफ देखा तक नहीं।

कुछ न बोल यह विषय यहीं समाप्त कर दूं, ऐसा प्रौढ़ विचार करके विषयांतर करने के उद्देश्य से मैंने कहा, "अब यह दूसरी पुस्तक आई है, इसकी समीक्षा···"

"देवी करनेवाली है न ?" गंगाधरराव बोला।

"हां, ऐसा उसने अभी कहा ज़रूर, पर समीक्षा वह लिखेगी या मैं लिखूंगा, यह अभी तक तय नहीं हुआ। शायद ऐसा होगा कि वह भी लिखेगी और मैं भी लिखूंगा और काका को जो पसंद आएगी उसे छाप दिया जाएगा।"

हमारी जब ये बातें हो रही थीं उस समय तीनों लड़कियां खड़ी थीं और हम दोनों बैठे थे। यह ध्यान में आकर कि हम पुरुष मज़े में बैठे हैं और वे तीनों खड़ी हैं, मुझे थोड़ा संकोच हुआ। मैंने गंगाधरराव से कहा, "आप अपने को बड़ा स्त्रीदाक्षिण्यवादी कहते हैं और सरासर यह देखते हुए कि ये तीनों खड़ी हैं आप उन्हें बैठने के लिए जगह नहीं बना रहे हैं।"

"कौन कहता है कि मैं अपने को स्त्रीदाक्षिण्यवादी कहता हूं ?" गंगाधरराव बोला, "मैं यद्यपि स्त्रीदाक्षिण्यवादी नहीं फिर भी उस दाक्षिण्य में जो दोष है उसे मैं ध्यान में रखे रहता हूं। स्त्रियां दुर्बल हैं, वे स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं, इसलिए उनकी चिंता करने के लिए पुरुष को तत्पर रहना चाहिए, यह जो पाश्चात्य वृत्ति है, उसे स्त्रीदाक्षिण्य कहते हैं। पर यह बात हमारी आर्य-संस्कृति में नहीं है। हमारी संस्कृति में स्त्रियां अपनी

चिंता स्वयं कर लिया करती हैं। दुर्बल पुरुष बैठा रहता है और स्त्री उसके सामने खड़ी रहती है। जेठे-सयाने आए कि झट से उसके सामने खड़े हो जाना, जब तक वे चले नहीं जाते तब तक न बैठना, अपने से बड़ों के सामने न बैठना इत्यादि जो रिवाज हैं वे स्त्रियों की शक्ति दिखानेवाले हैं ऐसा मैं समझता हूं। दूसरे लोग इसका भले ही कोई अन्य अर्थ करते होंगे।"

मैं बड़े जोर से हंस पड़ा।

"आप बड़े विक्षिप्त हैं, गंगाधरराव। हम कहती हैं कि यह लक्षण हमारे भाग्य में आई दासता के हैं।" वासंती बोली।

"भाग्य शब्द पुनः मुंह से न निकालना," मालती बोली, "भाग्यवाली बात मुझे बिलकुल नहीं पटती। उसमें भी, जैसाकि देवी कहती है, उसके अनुसार भाग्य कहा कि भले और बुरे दोनों का ही समर्थन भाग्य के ज़ोर पर दोनों प्रकार के लोग कर सकते हैं। इसलिए कहती हूं भाग्य का नाम मत लो।"

मुझे लगा कि यह विषय अब दूसरी तरफ बहता जाएगा। यदि बहस करने की सोचता तो आसार ऐसे थे कि बाजी मुझपर ही उलट पड़ती क्योंकि बोलनेवाले सभी लोग मेरे मतों के विरोधी थे। फिर बोलने में मैं कोई बड़ा कुशल भी नहीं था। लिखने को कोई कहता तो सोचकर बहुत-सा लिख देता, परन्तु इस प्रकार के वाद-विवाद में यदि कोई एक भी प्रश्न मुझसे पूछता तो उसका उत्तर मुझे सहसा सूझ ही नहीं पाता।

"क्या मुझे दोगी यह पुस्तक?" मैंने मालती से कहा।

"देवी जब पढ़ लेगी तो आपको देगी ही न?" ऐसा कहकर वह पुस्तक उसने देवी के हाथ में दी।

"चलो, अब हम चलें। इनकी वातचीत में हम बाधा क्यों बनें?" वासंती बोली और निकल पड़ी। उसके साथ मालती भी चल दी। देवी भी चली गई।

इस सारे वार्तालाप में देवी ने भूलकर मेरी ओर न देखा। उस वक्त वह मुझसे इतने परायेपन से पेश आई थी कि कोई चौकन्नी दृष्टिवाला हमें

देखता तो उसे यही लगता कि हम दोनों में कुछ विरोध पैदा हो गया है। देवी के उस रुख से मेरे दिल को गहरी चोट लगी। देवी ऐसा क्यों करती है ? मैंने ऐसा क्या अपराध किया है ? मैंने आज तक ऐसा एक भी शब्द उससे नहीं कहा जिससे उसका दिल दुखा हो, मैंने कभी उसका अपमान नहीं किया...

सचमुच ही क्या मैंने उसका अपमान नहीं किया ?

दूसरों के सामने मैं जो यह ध्वनित करता हूं कि उसके लेखों को मैं सुधार दिया करता हूं, तो इसका क्या उसे बुरा न लगा होगा ?

पर मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। एक बार खुद देवी से ही पूछकर देखूं ऐसा मैंने निश्चय किया। पर इस तरह पूछने से क्या मिलनेवाला था ?

मुझे चुप बैठा देख गंगाधरराव बोला, "क्यों ? क्या सोच रहे हो ?"

"यह अब नई पुस्तक आई है," मैंने कहा, "इसपर भी पुनः खलबली मच जाएगी। क्या है इसका कथानक ?"

गंगाधरराव ने एक सिगरेट जलाई। धुएं के बादल उड़ाकर मेरी ओर देखता हुआ बोला, "मुझे लगता है कथानक इसी शहर में घटी एक घटना को लेकर लिखा गया है। पहले भाग का कथानक भी इसी ज़िले की एक घटना की पार्श्वभूमि पर लिखा गया था। मुझे शक होता है कि इन पुस्तकों का लेखक हमारे इस ज़िले का ही कोई होना चाहिए। शायद हमारे परिचय का भी होगा।"

पुनः उसने एक ज़ोर का कश खींचा। धुएं के छल्ले गोल-गोल उड़ते हुए हवा में विलीन होने लगे। उनकी ओर निहारता हुआ कितनी ही देर तक वह खामोश रहा। मुझे भी उस दृश्य में मज़ा आया।

"इस कथानक का सम्बन्ध," गंगाधरराव बोला, "हमारे बहुत निकट का जान पड़ता है। पहले भाग के कथानक से इस पुस्तक के कथानक का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इस पुस्तक को 'खिलती कली–भाग दूसरा' जो कहा गया है, उसकी अपेक्षा यदि इसे 'खिलती कली—कथा दूसरी' कहा जाता तो अधिक उपयुक्त होता, ऐसा मेरा खयाल है। इस पुस्तक में एक

कुरमी औरत की कथा है। वह एक ज़मींदार के घर नौकरानी थी। उस ज़मींदार की कोठी में हमेशा गाना-बजाना होता रहता था। उस नौकरानी को उसे सुनने का बड़ा शौक था। उन गानों को वह गुनगुनाती रहती थी। उसकी आवाज़ स्वाभाविक रूप से ही अत्यन्त मधुर थी। इसलिए बर्तन मांजते समय जब वह गाने लगती तो ज़मींदार ऊपर की अटारी पर बैठकर उसका गाना सुना करता। उस नौकरानी का विवाह हो गया था। उसका पति एक फोटोग्राफर के स्टूडियो में काम करता था। उसने अपने घर में भी एक डार्क रूम बना रखा था। नौकरी करने के अलावा प्राइवेट तौर पर भी इधर-उधर का काम लेकर वह अपनी आमदनी बढ़ाया करता था। उसने अपनी पत्नी को भी फोटोग्राफी सिखा दी थी। इसलिए ज़मींदार की इस नौकरानी को इस काम का अभ्यास हो गया था। छोटा-सा कैमरा लेकर वह ज़मींदार के घर के लोगों की कभी-कभी फोटो खींचती और दूसरे दिन उन फोटो को तैयार करके उन्हें दिखाती। इस कारण वह उस परिवार में सबको प्रिय थी। ज़मींदार बीच-बीच में उसपर बुरी नज़र रखने लगा था। ज़मींदार की पत्नी के ध्यान में यह बात आई और उसने एक दिन उस नौकरानी को घर से निकाल दिया। निकालते समय उसके बारे में यह गप्प उड़ा दी कि उसका चाल-चलन बुरा है। यह गप्प सारे शहर में फैल जाने के कारण उसे अन्यत्र कहीं भी नौकरी नहीं मिल पा रही थी। उसके दुर्भाग्य से इसी समय उसके पति की मृत्यु हो गई। वह अनाथ हो गई। ज़मींदार ने फिर बहुत कोशिश की कि वह किसी तरह उसके घर आकर काम करने लगे, पर यह कोशिश सफल न हो पाई। बम्बई का कोई एक गवैया शहर में आया था। उसकी नज़रों में वह पड़ी और वहां की एक फिल्म कम्पनी में काम करने के लिए वह उसे अपने साथ ले गया। ज़मींदार के घर की यह विठी नौकरानी···"

"विठी नौकरानी ?···" मैं एकदम चिल्ला उठा, "विठी नौकरानी तो शेषगिरराव के घर थी ! उन्होंने उसे निकाल दिया था और इसीलिए निकाल दिया था कि उसका आचरण अच्छा नहीं था।"

"सुनो, उस पुस्तक का कथानक कैसा है यह पहले सुन लो।" गंगाधरराव बोला, "विठी नौकरानी बम्बई गई और वहां जाकर सुहासिनीदेवी बन गई। वह जिस फिल्म में काम करती थी, उसे देखने को लोग टूट पड़ते थे। भिन्न-भिन्न फिल्म कम्पनियां आपस में स्पर्धा करके उसे अपनी कम्पनी में नौकरी देने को उसका वेतन बढ़ाने लगीं। सब तरफ उसका नाम विख्यात हो गया..." इतना कहकर गंगाधरराव रुका और पुनः सिगरेट जलाकर बोला, "आगामी कथानक बेशक ऐसा है जो आपको नहीं जंचेगा। उसके रूप पर मोहित होकर बड़े-बड़े सुशिक्षित लोग उससे घनिष्ठता प्रस्थापित करने के लिए प्रतियोगिता से आगे आने लगे। पर वह सबको दूर ही रखती थी। अनेक धनिकों ने उसे प्राप्त करने के लिए अपनी थैलियां खोल दीं। फिर भी वह निश्चल रही। इस तरह अब तक निश्चल रही हुई वह 'खिलती कली' ऐसे ही किसी एक प्रसंग के कारण एक गरीब क्लर्क के पास रही। आज वह आनन्द में है और उतनी ही लोकप्रियता से फिल्मी दुनिया में रहती है। साधारण कथानक का लेखा इस तरह है। पर उसकी रचना लेखक ने जिस कुशलता से की है, समय-समय पर विठी के हृदय में उठनेवाले तूफान का जिस सूक्ष्म रीति से उसने वर्णन किया है, वह अद्वितीय है। पुस्तक पढ़ने से पाठकों को यही लगता है जैसे विठी ही अपनी आत्मकथा कह रही है।" गंगाधरराव रुका और पुनः दो-चार कश खींचकर बोला, "एक बार पढ़कर देख लीजिए। आप इतने बड़े पुराणपंथी हैं, फिर भी मुझे विश्वास है कि उपन्यास आपको अच्छा लगेगा।"

"यह कदापि सम्भव नहीं!" मैं चिल्ला पड़ा, "हर व्यक्ति को अपने-अपने स्तर को पहचानकर रहना चाहिए। पति के मरने के बाद वह औरत किसी दूसरे के घर मेहनत-मज़दूरी करके अपनी उपजीविका चला सकती थी। यदि इस तरह रहती तो पवित्र बनी रहती। पर इतनी लोकप्रियता, इतना यश और इतना धन प्राप्त कर उसने अपनी पवित्रता अलबत्ता खो दी।"

"पवित्रता की आपकी परिभाषा ही मैं नहीं समझ पाता।" गंगाधर-

राव बोला, "अपने बेलगांव में ही देख लीजिए। गली-गली में ऐसी कितनी ही औरतें आज प्रत्यक्ष कोठे सजाकर बैठी है। अच्छे समझे जानेवाले, आप और मुझ जैसे, अपने को कट्टर पुराणपंथी कहनेवाले, आर्य-संस्कृति के प्रति बड़ा अभिमान रखनेवाले इत्यादि ऐसे कितने ही लोग इन कोठों की दहलीजें घिसते हैं। वे स्त्रियां यदि अपवित्र हैं तो उनके कोठों में जानेवाले ये लोग भी क्या अपवित्र नहीं होते ?"

मैं अच्छा मुंहतोड़ जवाब देनेवाला था, पर इसी समय गंगाधरराव के साथी एक-दो मास्टर आ गए। उन्होंने अपनी शाला की बातें आरम्भ कर दीं और विठी की कथा वहीं तक रही।

उस पुस्तक को पढ़ने के लिए मैं बहुत उत्कंठित हो उठा था। मुझे कथानक में ऐसी कोई खास बात दिखाई नहीं दी। सिनेमा की अभिनेत्रियों के कथानक कुछ इसी तरह के होते हैं, ऐसी मेरी धारणा थी; और उन्हींमें का एक यह भी था। इसमें लेखक ने ऐसी कौन-सी विशेष बात लिखी ?

विषय का विस्तार करने में 'कृष्णाजी बलवन्त' दूसरे लेखकों से भिन्न था। उसकी यह विशेषता सिर्फ कथानक सुनकर मुझे मालूम न हो सकती थी इसका मुझे अन्दाज़ था। इसीलिए जब तक स्वयं पुस्तक न पढ़ लूं तब तक उसके बारे में मैं अपना कोई मत नहीं बनाऊंगा ऐसा मैंने निश्चय किया।

दूसरे दिन सुबह देवी द्वारा लिखी गई समीक्षा मेरे हाथ में आई।

उसे खोलकर मैं पढ़ने लगा।

मुझे लगा, मेरी आंखें मुझे कहीं धोखा तो नहीं दे रही हैं !

१५

उस समीक्षा में देवी ने अथ से इति तक पुस्तक की खूब प्रशंसा की थी। कथानक की मुझे कल्पना थी ही। पर पुस्तक अभी तक मुझे पढ़ने को

नहीं मिल पाई थी। एक विचार मन में यह भी आया कि जब लेखक या प्रकाशक ने पुस्तक की प्रति मेरे पास भेजी ही नहीं है तो मैं अपने पत्र में उसकी समीक्षा क्यों प्रकाशित करूं? अगर प्रकाशित करना भी चाहूं तो उस पुस्तक को मुझे कम से कम एक बार अवश्य पढ़ लेना चाहिए।

फिर एक विचार मन में यह आया कि मैंने अगर पुस्तक पढ़ी नहीं तो भी क्या हर्ज है। कहानी मुझे मालूम ही है। एक संशयास्पद चालचलन की नौकरानी के आचार-विचारों का समर्थन करना सच्चे हिंदू को शोभा नहीं देता। पता नहीं, देवी ने पुस्तक की इतनी तारीफ आखिर क्यों की है? मुझे इसपर आश्चर्य हुआ।

पुस्तक पढ़ने के लिए मैं उतावला हो उठा था।

देवी को एक पत्र लिखकर मैंने उससे पुस्तक मंगा ली और एक ही बैठक में पूरी पढ़ गया। पुस्तक वैसे कोई बहुत बड़ी नहीं थी। थे यही कोई पौने दो सौ के करीब पृष्ठ। परन्तु हिंदुओं की पुरानी परम्पराओं पर—जहां-जहां भी मौका मिला, वहां-वहां—लेखक ने बड़ी निष्ठुरता से आघात किए थे। पहली पुस्तक से तुलना करने पर इस पुस्तक में मुझे विशेष रूप से यह दीख पड़ा कि इसमें लेखक ने अपने स्वैराचारी विधानों को परम सीमा पर पहुंचा दिया था।

चूंकि पुस्तक पढ़ रहा था इसलिए खाने पर जाने के लिए मुझे थोड़ी देर हो गई। काका खाना खा चुके थे। उनका नित्य-क्रम बिलकुल घड़ी की तरह निश्चित था। किसीके लिए वे कभी भी रुकते नहीं थे। अगर कोई बड़े प्रतिष्ठित मेहमान भी समय पर खाना खाने न आते तो उनके लिए भी वे रुकते न थे। उनके आने से पहले वे अपने ठीक समय पर खाना खा लिया करते थे। इसमें उन्हें कोई संकोच या झिझक न होती थी।

पुस्तक पढ़ने के कारण मुझे देर हो गई थी। उन्होंने जब मुझे वह पुस्तक लिए देखा तो पूछा, कौन-सी पुस्तक है? मैंने नाम बताया। यह जान कि मैं पुस्तक पढ़ चुका हूं, उन्होंने वह उठा ली। देवी द्वारा उस पुस्तक पर लिखी गई समीक्षा भी मैंने उन्हें दे दी और मैं खाना खाने चल दिया।

मैं खाकर जब लौटा, उस समय काका वह पुस्तक पढ़ रहे थे। मुझे आया देखते ही बोले, "अरे, यह लेखक तो हमारे शहर का ही मालूम होता है, बल्कि कहना चाहिए कि वह कोई बिलकुल हमारे आसपास ही है···"

"मेरा भी यही ख्याल है, "मैंने कहा, "जिस घटना का इस पुस्तक में ज़िक्र है वह किसी समय बड़ी विख्यात थी। पर लोग अब उसे भूल चुके थे। उन गड़े मुर्दों को जान-बूझकर उखाड़ना और शेषगिरराव पर व्यर्थ ही कुछ आरोप लगाकर उनकी बेइज़्ज़ती करना, यही लेखक का उद्देश्य दिखाई देता है।"

काका पुनः पढ़ने लगे और समीक्षा लिखने के लिए मैं कागज़ लेकर बैठा। पहले कथानक का सारांश लिख डाला।

बाद में आलोचना लिखनी थी। परन्तु उस कथानक का सारांश ही कुछ इस ढंग से लिखा गया कि मुझे वह जंच नहीं रहा था। देवी द्वारा लिखे गए, बड़ी सहानुभूति से लिखे गए, कथा के सारांश की मेरे इस लेख पर पूरी छाप पड़ी थी।

मैंने पुस्तक पर आलोचना लिखी। जितनी गालियां देना सम्भव था उतनी लेखक को दे डालीं। लेखक के ऊटपटांग मतों के लिए उसे खूब कोसा और फटकारा।

मैंने यह भी लिख दिया था कि पुस्तक का लेखक कोई बेलगांव का या बेलगांव के आसपास का निवासी ही मालूम होता है, परन्तु बाद में मैंने वह वाक्य काट दिया। जो बात बेलगांव के बाहर लोगों को मालूम नहीं, वह जान-बूझकर उन्हें क्यों मालूम कराई जाए?

पुस्तक पढ़ते-पढ़ते काका उसे हाथ में लिए ही चल दिए। देवी द्वारा लिखी समीक्षा भी वे साथ ले गए। आजकल देवी के आफिस न आने के कारण वे आफिस में रोज़ बिला नागा बैठते ही हों, यह बात न थी। सच पूछा जाए तो उन्हें आफिस में बैठने का कोई कारण ही नहीं था। परन्तु पहले से देवी के लिए उन्होंने जो आना शुरू किया था वह क्रम वे आगे भी पाल रहे थे।

काका को गए कुछ देर हो गई। मैंने जो आलोचना लिखी थी उसे मैंने पुनः पढ़ा, बीच-बीच में उसे सुधारा। कुछ वाक्य और जोड़े और कुछ वाक्यों को उसमें से काट दिया। कुछ शब्द भी इधर-उधर बदले। इसके बावजूद मुझे सन्तोष नहीं हो रहा था। सुधार करते समय मुझे गुस्सा आ रहा था। उस गुस्से के जोश में कागज़ पर मेरी कलम की फटकार इतनी ज़ोर से पड़ रही थी कि कहीं-कहीं कागज़ भी फट रहा था।

अपनी तन्द्रा में मैं उस लेखक को फटकार रहा था कि इसी समय देवी सामने आकर कब खड़ी हो गई, इसका मुझे पता तक न चला। जब वह हंसी तब कहीं मेरा ध्यान उसकी ओर गया।

मैंने आंखें उठाकर देखा। उसे सामने देखते ही मुझे आनन्द हुआ था, फिर भी चेहरे पर बनावटी क्रोध का भाव धारण कर मैंने कहा, "क्यों आई? कौन-सा काम रुक गया था यहां तुम्हारे बिना?"

"नहीं जी, मैंने सोचा इतनी छुट्टी बस हो गई," देवी शांति से बोली, "अब पुनः ड्यूटी पर लौटना चाहिए।"

"फिर भी गनीमत है कि तुम्हारी कोई तनख्वाह तय नहीं," मैंने क्रोध से कहा, "यदि कोई तनख्वाह तय हुई होती तो मैं यह कहता कि उसकी वसूली के लिए ही आने का तुम यह ढोंग कर रही हो।"

"क्यों भला?"

"यह क्या कोई समीक्षा है? क्या लिख डाला है इसमें?"

"मुझे जो लगा वही मैंने लिखा है।"

"मतलब? क्या यह पुस्तक तुम्हें अच्छी लगी?"

"बहुत ज़्यादा!"

मैं आश्चर्यचकित होकर उसकी ओर सिर्फ देखता रहा। मुझे लगा, मैं बिलकुल बूद्धू की तरह उसकी तरफ देख रहा था।

मेरी वह विचित्र मुद्रा देखकर ही शायद वह हंस पड़ी—बिलकुल 'उसी तरह' हंसी।

मैं चाहता था वह हंसे। उसके जिस हास्य को देखने के लिए आज

इतनी देर तक वह खड़े-खड़े ही बोल रही थी। अब वह बैठ गई।

"फिर अब आगे क्या करें ?" मैंने कहा, "कम से कम मुझे तो नहीं लगता कि यह समीक्षा छापी जाए। दूसरी बात यह भी है कि प्रकाशक या लेखक से अभी तक हमारे पास इसकी कोई कापी ही नहीं आई। लेखक के बिना भेजे जान-बूझकर उसकी आलोचना कर उसे प्रसिद्धि देना मुझे पसन्द नहीं।"

"अच्छा !" देवी बोली, "लेकिन पहली पुस्तक की कापी भी लेखक ने तुम्हारे पास, अखबार निकलने से पहले या उसके निकलने के बाद भी, कहां भेजी थी ? फिर भी तुमने उसकी समीक्षा अपने पत्र में छापी थी। वह क्यों ?"

"उस समय वह पुस्तक सब तरफ चर्चा का विषय बन बैठी थी।" मैंने बड़े आवेश में कहा, "लोगों के दिलों पर उसका असर पड़ गया था। उसके कारण हमारी आर्य-संस्कृति पर आघात हो रहे थे। आर्य-संस्कृति के प्रति हमें ज्वलन्त अभिमान होने के कारण हमने वह समीक्षा प्रकाशित की थी।"

"फिर आर्य-संस्कृति के प्रति अपने उसी जाज्वल्य अभिमान के कारण इस पुस्तक पर भी तुम अपनी मनचाही समीक्षा क्यों नहीं प्रकाशित करते ?" देवी बिलकुल धीमी आवाज़ में बोली, "मेरी समीक्षा तुम्हारी आर्य-संस्कृति के अनुकूल नहीं है। तुम्हारे समाचारपत्र की नीति से भी वह असंगत है। उसे तुम प्रकाशित नहीं करोगे यह मैं जानती हूं। परन्तु अपनी मनचाही समीक्षा प्रकाशित करने के लिए यदि तुम लेखक से पुस्तक प्राप्त होने तक की प्रतीक्षा करते रहोगे, तो क्या उस अवधि तक तुम्हारी आर्य-संस्कृति का उच्छेद नहीं हो जाएगा ?"

मैं दंग रह गया। क्या देवी ही यह कह रही है ? सिर्फ इस एक पुस्तक को पढ़कर एक रात में ही उसके मत बदल गए, या कि गंगाधरराव ने आज तक उसके मतों पर जो आघात किए उसका यह प्रभाव है ?

मैंने जब ऐसा पूछा, बिलकुल साफ-साफ ही पूछा, तो वह बोली, "गंगाधरराव मुझे बहुत दिनों से पहचानते हैं और मैं भी गंगाधरराव से

अच्छी तरह परिचित हूं। उनके मतों को भी मैं अच्छी तरह जानती हूं। उनके मत मुझे कोई आज ही मालूम नहीं हुए हैं। चाचाजी से उनकी मित्रता है। वह क्यों है यह भी मुझे मालूम है। चाचाजी की बहुत-सी पोलें गंगाधरराव को मालूम हैं। दोनों के इस स्नेह का कारण प्रेम नहीं, बल्कि भय है।"

मेरे मस्तिष्क में एकदम प्रकाश पड़ा—'इन पुस्तकों का लेखक गंगाधरराव ही है।'

"अच्छा, यह बात है ?" मैंने कहा, "क्या गंगाधरराव शेषगिरराव की बहुत-सी पोलें जानता है ? पर तुमने मुझसे यह पहले कभी नहीं कहा ?"

"कहने का कभी कोई अवसर ही नहीं आया।" देवी बोली, "पहली पुस्तक का कथानक भी यहीं का है—हरेश्वरराव का। कथावस्तु थोड़ी परिवर्तित कर दी गई है, पर वह हरेश्वरराव के जीवन पर बिलकुल लागू होती है। इस पुस्तक का कथानक शेषगिरराव के जीवन से सम्बन्धित है—लेखक ने यहां-वहां थोड़ा-सा ही फर्क किया है। मालूम नहीं यह लेखक कैसा है ? क्या इसे अपनी कल्पना-शक्ति बिलकुल ही चलाते नहीं बनती ? उसे कल्पना से कोई कथानक तैयार करना था। पर वह तो सिर्फ नाबदान की गन्दगी साफ करने में ही अपने लेखक को सार्थक समझता है। कौन है यह लेखक ?"

"मैं क्या बताऊं ? लेखक कौन है, यह जितना तुम जानती हो उतना ही मैं जानता हूं।"

"कुछ अन्दाज़ तो लगाकर देखो।"

"इसका अन्दाज़ लगाने की अब कोई ज़रूरत ही नहीं रही। मुझे पूरा विश्वास है कि इन पुस्तकों का लेखक गंगाधरराव ही है।"

"गंगाधरराव को तुमने मराठी बोलते तो सुना है न ? उसे यह भाषा ठीक से बोलते भी बनती है ? स्त्री-पुरुष के भेद से मराठी में क्रियापद बदलते हैं इसका भी जिस मनुष्य को ज्ञान नहीं वह इतनी अच्छी मराठी

भाषा लिख लेगा यह तोहमत उस बेचारे पर क्यों लगाते हो ?"

मुझे अपने पर ही शर्म आई। देवी का कहना ठीक था। गंगाधरराव कन्नड़ भाषा का साहित्यिक था। कन्नड़ का बड़ा अभिमानी था। यही नहीं, बल्कि कन्नड़-मराठी का जो आन्दोलन आजकल शुरू हुआ था उसमें मराठी का बहिष्कार करनेवालों में वह एक अग्रणी था। सचमुच ही इतनी अच्छी मराठी वह नहीं लिख सकता था।

"फिर ये पुस्तकें लिखीं किसने ? 'कृष्णाजी बलवन्त' कौन है ? कौन व्यक्ति है वह जिसे इस परिवार की इतनी छोटी-छोटी बातों का भी पूर्ण ज्ञान है ?"

हम बातें कर रहे थे कि इसी समय काका आए। वे बोले, "पढ़ी यह पुस्तक ?..." देवी की ओर मुड़कर बोले, "तुमने पढ़ी ही है। यह समीक्षा भी लिखी है तुमने। मैंने बिलकुल एक-एक शब्द तो नहीं पढ़ा; पर यूंही मन में आया, तब इधर-उधर के पन्ने पलटाकर बहुत-सी पुस्तक पढ़ डाली। आगे के कथानक में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं मालूम हुई। पहले कुछ पृष्ठों की कथा-वस्तु..." काका कुर्सी पर बैठे और चिरुट जलाकर बोले, "देवी, ऐसे कथानक का प्रकाशित होना क्या तुम्हें इष्ट प्रतीत होता है ? तुम्हारे ही घर की बातें इस तरह चौराहे पर आई हुई हैं, यह देखकर भी तुमने पुस्तक की ऐसी समीक्षा लिखी ? तुमने पुस्तक के पक्ष में अपना मत प्रकट किया ?"

"मेरे घर का इस कथानक से क्या सम्बन्ध ?" देवी ने बड़ी विनम्रता से पूछा।

"क्या यह कथानक तुम्हारे घर का नहीं ?" काका बोले।

"होगा, पर उसमें हमारे घर का कोई उल्लेख नहीं है। हमारे घर के लोगों का भी कोई उल्लेख नहीं है..."

"पर विठी का नाम तो है न ?"

"नाम के समान नाम तो बहुत-से होते हैं। यदि इस तरह नामों की चिन्ता की जाए, उनके बारे में सावधानी बरती जाए, तो मैं समझती हूं कि

कहानी या उपन्यास लिखना ही असंभव हो बैठेगा। किसी भी कथानक में अनेक नामों के समान नाम आएंगे ही।"

"पर इस अचूक लिखी हुई कथा में?" काका प्रत्येक शब्द के साथ अपना हाथ कुर्सी के हाथ पर मारते हुए बोले, "बिलकुल छोटी-मोटी घटनाएं लिखी गई हैं, वे भी बिलकुल अचूक हैं। इन अचूक वर्णनों के साथ ही विठी यह अचूक नाम भी आया है। बेलगांव के बाहर के लोगों को चाहे पता न चले, परन्तु बेलगांव ज़िले में रहनेवाले लोगों के दिलों में इस पुस्तक के कारण शेषगिरराव के प्रति गलतफहमी कितनी बढ़ जाएगी, इसकी क्या कोई कल्पना है तुम्हें?"

"गलतफहमी बढ़ जाने का क्या मतलब?" देवी बोली, "क्या लोगों के दिलों में उनके प्रति कुछ गलतफहमियां पहले से ही हैं?"

"हां, हैं।" काका बोले, "सज्जनों पर व्यर्थ के आरोप थोपने के लिए लोग सदा ही तत्पर रहते हैं। यदि किसीका भला होता है तो लोग उसे देख नहीं सकते। शेषगिरराव की बेलगांव शहर में इज़्ज़त है। बेलगांव के बाहर उनकी काफी पहचान है। यही लोगों की आंखों में चुभता है। इसपर से उनकी थोड़ी-बहुत बदनामी हुई थी, पर लोगों को वस्तुस्थिति का क्या पता है? वह औरत कैसी थी? पहले से ही खराब चाल-चलन की थी या बाद में उसका चाल-चलन खराब हुआ, यह कोई प्रत्यक्ष देखने नहीं आया था। बेलगांव के हर मनुष्य को लगने लगा कि इसमें शेषगिरराव का ही अपराध है। ऐसी पुस्तक की प्रशंसा करके शेषगिरराव की बदनामी करने के लिए अन्य लोगों की अपेक्षा तुम ही अधिक कारणीभूत होगी ऐसा यदि हमने कहा तो क्या वह हमारी भूल होगी?"

देवी कुछ न बोल स्तब्ध रही।

मैंने कुछ न बोल अपनी लिखी समीक्षा काका को दी। उसे काका ने जल्दी-जल्दी पढ़ा। बोले, "लेख मामूली ठीक है। पर पहले की पुस्तक पर देवी ने जो समीक्षा लिखी थी उसका ज़ोर इसमें नहीं। समीक्षा के लिए जिस प्रकार की एक विचक्षण दृष्टि की आवश्यकता होती है वह दृष्टि देवी की

समीक्षा में थी। इसमें उसके कहीं भी दर्शन नहीं होते। पर लेख अच्छा चरपरा है इसमें शक नहीं—पर उसमें सुसंबद्धता नहीं…"

काका प्रत्येक वाक्य लेकर उसकी छानबीन कर रहे थे—देवी हंस रही थी और मैं लज्जा से गरदन झुकाए चुपचाप खड़ा था।

१६

अंक प्रकाशित हुआ। उसमें मेरे द्वारा लिखी समीक्षा छपी थी। वह समीक्षा यद्यपि मुझे अच्छी नहीं लगी थी, पर पाठकों को पसंद आई।

छपा हुआ लेख पढ़कर काका ने भी यही कहा। बोले, "पांडुलिपि में लिखे लेख और छपे हुए लेख को पढ़ने में कुल मिलाकर फर्क होता है। लेख जितना मुझे लगता था उतना खराब नहीं। काफी अच्छा बन पड़ा है।"

मैं गर्व से फूलकर कुप्पा हो गया। देवी के सामने इस लेख के बारे में काका ने उस दिन जो उद्गार निकाले थे उनके कारण मैं शरमा गया था। परंतु अब जब लोग उस लेख की प्रशंसा करने लगे तो मुझे जोश आया और मैंने देवी को ऐसा कहा भी। वह बोली, "लोगों का स्वभाव ही ऐसा होता है। दोषों को पढ़ना उन्हें अच्छा लगता है। मेरा भी ख्याल है कि तुमने समीक्षा अच्छी लिखी है। 'इतनी' अच्छी समीक्षा मैं शायद न लिख पाती।"

क्या वह हृदय से बोल रही थी ? 'इतनी' शब्द पर उसने विशेष ज़ोर दिया था, इसलिए मुझे कुछ शक हुआ। उसके कथन में व्यंग्य था इसमें संदेह नहीं।

आगामी और एक-दो अंकों में उस पुस्तक की दूसरे लेखकों द्वारा भेजी गई आलोचनाएं छपीं। पर देवी ने उनके बारे में कभी कुछ न कहा।

दिन-प्रतिदिन समाचारपत्र की बिक्री कम हो रही थी। बाहर की मांगें रद्द की जा रही थीं। ऐसा क्यों हो रहा है इसकी कोई कल्पना मैं नहीं

कर पा रहा था। मैं बार-बार अंक को उलट-पुलटकर देखने लगा। तब मेरे ध्यान में आया कि ज़रूर कहीं कमी है। देवी पहले जिस प्रकार लिखती थी उस प्रकार का जोश आजकल उसके लेखों में नज़र नहीं आता था। यही नहीं, बल्कि विवाद्य विषय को टालकर अन्य विषयों पर ही वह लिखने लगी थी। इस कारण अन्य समाचारपत्र और हमारे 'सच्चा हिंदू' पत्र में विशेष कोई फर्क नहीं दिख रहा था।

यह देख कि अखबार की बिक्री दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है, काका और शेषगिरराव बेचैन हो उठे। खर्च की परवाह किसीको न थी, पर प्रचार की दृष्टि से ये आसार ठीक नहीं थे। खर्च तो उतना ही हो रहा था, पर उसके अनुपात में उतना प्रचार नहीं हो रहा था। दोनों बातों में कमी होते देख काका ने एक दिन मुझे खूब फटकारा।

मैं निरुत्साहित हो गया। क्रोध से भरे काका चल दिए थे, इस कारण हमें एकांत मिला। मैंने देवी से कहा, "तुम्हारे कारण ही मुझे यह डांट खानी पड़ी। तुम्हारे लिए ही तो पत्र निकाला···"

"मेरे लिए?" देवी बोली, "मैं तो नहीं सोचती ऐसा। मुझे तो तुम्हारी एक सहायक के रूप में ही लिया गया था। मेरे लिए कौन पत्र निकालेगा भला? हम लड़कियां तुम्हारी आर्य-संस्कृति के महत्त्व को क्या जानें?"

"ऐसा?" मैंने व्यंग्य से कहा, "हमारा पत्र बंद हो जाए इसीलिए जान-बूझकर तुम आजकल ऐसे रुचिहीन लेख लिखने लगी हो। यही न?"

देवी हंस पड़ी—उस तरह नहीं—बिलकुल मामूली हंसी। उस हास्य में जिस तरह कोई व्यंग्य न था उसी तरह किसी प्रकार की मादकता भी न थी। अन्य चार लड़कियां जिस तरह हंसती हैं, उसी तरह इस समय वह हंसी थी। मुझे क्रोध आया। मैंने कहा, "तुम्हारे हंसने का अर्थ मैं समझ नहीं पा रहा हूं। मेरा ख्याल है कि चूंकि मैं तुम्हारी तरह अच्छे और जोरदार लेख नहीं लिख सकता, इसीलिए तुम जान-बूझकर यह पाजीपन कर रही हो!"

"तो समझ गए न?" इतना ही कहकर देवी स्तब्ध हो गई।

उसने अपना पाजीपन जब इस तरह बिलकुल खुल्लमखुल्ला स्वीकार कर लिया तो फिर मैं भी निरुत्तर हो गया।

मैं भी आखिर क्या कहता? क्या उसके पैर पड़ता? उसके सामने गिड़गिड़ाता? यदि ऐसा कुछ करता तो क्या वह मुझे शोभा देता? एक क्षण के लिए मैंने जल्दी-जल्दी सोचा। कितने ही विचार मेरी नज़रों के सामने से घूम गए। एक बार क्रोध आया—पश्चात्ताप हुआ—घृणा आई—पुनः मन ठंडा हुआ—पुनः मन ने उछाल ली—बाद में काफी नाराज़ हुआ। उस नाराज़ी के जोश में मैंने कहा, "तुम्हें एक बात बताए रखता हूं देवी, तुम्हारी तरह मैं नहीं लिख सकता यह मैं स्वीकार करता हूं, पर यह पत्र चलना चाहिए। इसमें हम पुराणपंथियों की इज़्ज़त उलझी है। उस इज़्ज़त की क्या तुम्हें कोई चिंता नहीं? शेषगिरराव का घर—मेरा घर यानी मेरे काका का घर—इन दो घरों की इज़्ज़त आज इस पत्र पर अवलंबित है, इसकी तुम्हें क्या कोई परवाह नहीं?"

बिलकुल गम्भीरता से देवी बोली, "तुमने पत्र निकालते समय मुझसे नहीं पूछा था। तुमने मुझे बुलाया। मुझपर उपकार करने के लिए मुझे लेख लिखने का अवसर दिया। मैंने वह अवसर लिया और उसका लाभ उठाकर अपना महत्त्व तुम्हें जंचा दिया···" बोलते-बोलते वह बीच में रुकी। एक क्षण के लिए कुछ सोचकर फिर बोली, "मुझे कहना तो बहुत है; परन्तु वह सब कहना उचित नहीं होगा इसलिए चुप ही रहती हूं। तुममें कुछ अक्ल हो तो स्वयं जान लो कि मैं क्या कहना चाहती हूं।"

मैं कुछ कहूं इससे पहले ही वह एकदम चल दी—इसी समय काका आए।

जा रही देवी की ओर वे देख रहे थे। झट से मेरी ओर गर्दन मोड़कर बोले, "क्या हुआ रे श्रीनिवास, क्या लड़ पड़े दोनों? क्या बात है?···"

"लड़ना संभव नहीं, पर मुझे जो लगा वह मैंने उससे कह दिया। मैंने उससे स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'सच्चा हिन्दू' पत्र में मेरी इज़्ज़त उलझी है और देख रहा हूं कि आजकल उसे इस पत्र के बारे में कोई चिन्ता नहीं,

उसके प्रति रत्ती-भर भी आस्था नहीं। मुझे ऐसा लगा और यही मैंने उससे कह दिया…"

"ठीक किया!" काका बोले, "अगर गुस्सा हो गई है तो हो जाने दे। मुझे उसकी ज़रा भी परवाह नहीं। लड़की की जाति को इतना घमंड! ऊंः—अच्छा, यह देखो, मैं एक बात तुमसे पूछना चाहता हूं। अनिखिडी की वह वासन्ती कैसी क्या है?"

मैं दंग रह गया। सोचा उपसंपादिका की हैसियत से काका क्या अब वासन्ती को लाकर मेरी छाती पर बिठाएंगे?

काका बोले, "कल ही मैं उनके घर गया था। अनिखिडी ने मेरे सामने प्रस्ताव रखा है…"

मेरा कलेजा धड़कने लगा। काका आगे बोले, "लड़की को मुझे लाकर दिखाया। दिखने में अच्छी है। कालेज जाती है। पर कोई हर्ज़ नहीं! रसोई अच्छी बना लेती है—ऐसा उसका बाप कहता है।"

काका उसके गुणों की सूची पढ़ रहे थे। मेरे सामने सवाल खड़ा हुआ —क्या विवाह की बात है यह? साफ-साफ ऐसा दिख रहा था। फिर भी मैं अपने मन को यही समझा रहा था कि ऐसी कोई बात नहीं होगी।

"क्या तुमने देखी है वह लड़की?" काका ने पूछा, "तीन हज़ार रुपया दहेज में देंगे और बारातियों का यथोचित मान-सम्मान करेंगे सो अलग…"

"छि! छि!" मैंने बड़े ज़ोर से कहा और आगे मेरी घिग्घी ही बंध गई! यह कैसा अविचार कर डाला मैंने? काका के सामने कितने ज़ोर से चिल्ला पड़ा!

"क्यों जी, क्या हुआ? बड़े ज़ोर से चिल्लाए?" काका बोले।

होश में आकर मैं जवाब देने की कोशिश कर रहा था। पर मेरी घबराहट इतनी स्पष्ट थी कि वह काका के ध्यान में आए बिना न रही।

मैंने कहा, "बड़ी भयंकर है वह लड़की। 'कृष्णाजी बलवन्त' की बड़ी भक्त है—नवमतवादी है…"

"बेवकूफ हो तुम!" काका बोले, "अनिखिडी की लड़की नवमतवादी

कैसे होगी जी ? आर्य-संस्कृति और पुरानी परम्पराओं का वह बड़ा हिमायती है। यह बात ज़रूर है कि अपनी लड़की को पढ़ने कालेज भेज रहा है। पर अन्य चार लोग जिस तरह भेज रहे हैं उसी तरह वह भी कर रहा है। बी० ए० और एम० ए० पास हुई सभी लड़कियां कोई सुधारक ही हो जाती हैं यह बात नहीं। तुम उसे भयंकर कहते हो इसका क्या मतलब ?"

"वह रोज़ रेसकोर्स पर घूमने जो जाती है," मैंने कहा, "और लड़कियों का एक बड़ा दल भी अपने आसपास रखे रहती है। रास्ते-भर उन लड़कियों से ज़ोर-ज़ोर से बातें करती है खूब खिलखिलाती है।"

"श्रीनिवास, तुम बिलकुल बुद्धू हो," काका बोले, "लड़कियों की जब तक शादी नहीं होती, तभी तक वे इस तरह करती हैं। तुममें अगर ताकत हो तो तुम उसे अच्छी तरह सीधी राह पर ले आओगे। दिखने में लड़की बड़ी अच्छी है। हम देशस्थों में इतनी गोरी लड़की प्राप्त होना बड़ा कठिन है। मेरा ख्याल है ऐसा अच्छा रिश्ता हाथ से नहीं जाने देना चाहिए..."

मेरे छक्के छूट गए। मुझे कुछ भी सूझ नहीं पा रहा था। काका ने यह विवाह करीब-करीब तय-सा ही कर डाला था। इनकार करूं तो भी मुश्किल !

मेरा सारा जीवन काका पर अवलंबित था। मान लो, नाराज़ होकर मैं घर से बाहर चल देता; पर मैं था सिर्फ मैट्रिक पास एक लड़का, मुझे कहां नौकरी मिलती और अगर मिलती भी तो ऐसी क्या बड़ी तनख्वाह मिलती ! काका के हुक्म को टालने की मुझमें हिम्मत नहीं थी।

तो क्या वासन्ती से विवाह कर लूं ? मेरी उससे पटेगी भी ? जो आज ही मेरा अपमान करती है, विवाह होने के बाद भगवान जाने वह और क्या करेगी ? हमारे घर में जेठी-सयानी कोई औरत भी नहीं। यह बहू बनकर आएगी और सारे घर की मालकिन ही बनकर बैठ जाएगी और मुझे एक पालतू कुत्ते की तरह अपने पीछे-पीछे दौड़ाएगी। यदि मैं कभी बीमार हो गया तो मुझे देखने तक नहीं आएगी। काका की मर्ज़ी प्राप्त कर ली कि हो गया। ये आजकल की लड़कियां बड़ी चालाक होती हैं। जेठे-सयानों की

आंखों में धूल झोंकना कोई इनसे सीखे।

विषयांतर करने की गरज़ से मैंने कहा, "देवी का कहीं जम रहा है शायद ?"

"जम क्या रहा है," काका बोले, "करीब-करीब जम ही गया है। त्रावणकोर के या वहीं कहीं आसपास के कोई दीवान हैं। उसके लड़के से विवाह होगा यह निश्चित-सा ही हो गया है। आज या कल वे लोग लड़की देखने आ रहे हैं।"

"पर देवी ने कुछ कहा नहीं !" मैंने कहा।

"वह जानती भी है या नहीं, कौन जाने," काका बोले, "ऐसी बातें क्या कोई लड़कियों से कहता है ? देवी का जो होना होगा सो होगा। उससे हमें या तुम्हें क्या वास्ता ? पर तुम बताओ, तुम्हारा क्या उत्तर है ?"

"मुझे सोचने के लिए क्या कुछ समय मिल सकेगा ?" मैंने अटकते-अटकते कहा।

काका बड़े ज़ोर से हंस पड़े।

"तुम्हें भी सोचना पड़ता है, श्रीनिवास !" वे बोले, "अच्छा, अच्छा, कोई हर्ज नहीं। सोच लो, बिलकुल, खूब सोच लो और बाद में 'हां' कह देना—'हां' कहना है ऐसा निश्चय करके ही सोचो !"

क्या खूब ! सोचने का यह बड़ा अच्छा उपदेश हुआ ! मेरी इच्छा नवमतवादी बनने की हुई। क्या खूब कहते हैं—सोचो ! 'हां' कहना है, यह निश्चय करके ही सोचो ! यदि 'हां' ही कहना है, तो सोचने की ज़रूरत ही क्या ?

काका चल दिए और मैंने सोचा; पर मैंने सोचा क्या, किसके बारे में सोचा ? क्या वासन्ती के बारे में ? नहीं, देवी यदि त्रावणकोर के दीवान की बहू बनी तो उस बेचारी का क्या होगा इस विचार में मैं पड़ गया था।

मुझे अपने पर ही आश्चर्य हुआ। खुद तो आफत में था। फिर अपनी ऐसी संकटकालीन परिस्थिति में देवी के भविष्य का विचार करने की मुझे क्या ज़रूरत थी ? अगर उसका विवाह होता है तो हो जाए। ससुराल में उसका

जो होना हो सो होता रहे। शहर की और भी तो बहुत-सी लड़कियों के विवाह आखिर हुए ही हैं कि नहीं? पर उनके बारे में तो मैंने कभी नहीं सोचा। फिर देवी के बारे में ही मैं क्यों सोचूं?

शाम को मैं घूमने गया। नित्य की भांति पथरीली कुर्सी पर बैठा। तभी मुझे लड़कियों का दल आता हुआ दिखाई दिया। उसमें वासन्ती थी।

रोज़ वह आती थी उस समय उसका मुझे कुछ नहीं लगता था। परंतु आज क्या होगा? क्या उसे यह पता चल गया होगा कि मुझसे उसका विवाह तय हो रहा है? अगर उसे यह बात मालूम होगी तो आज वह मुझसे किस तरह बर्ताव करेगी? चूंकि मुझे मालूम है इसलिए मैं भी आज उससे किस तरह पेश आऊं, किस तरह बातें करूं?

सारी लड़कियों ने आकर मुझे करीब-करीब घेर लिया। मालती बोली, "कहिए लाला, लड्डू या जलेबी?"

जैसे मैं कुछ भी नहीं जानता, इस तरह भोलेपन से मैंने कहा, "लड्डू? जलेबी? सो किसलिए?"

"शादी की दावत नहीं दोगे क्या?" मालती बोली।

"किसकी शादी?" मैंने पूछा।

"वासंती की!" मालती ने उत्तर दिया।

"अजी, तो वासंती की शादी से मेरा क्या ताल्लुक?" मैं बिलकुल बेशरमी से बोला।

"अब सुन लो!" मालती बोली, "वासंती से इन हज़रत का विवाह तय हो गया है और मुझसे पूछ रहे हैं कि वासंती से इनका क्या ताल्लुक? क्यों री वासंती, देखा?"

"अब तुम्हीं देखो," वासंती बोली, "शादी तय हो जाने पर भी नामंज़ूर कर रहे हैं।"

मैं दंग रह गया।

वह आगे बोली, "अभी से जब ऐसी चकमेबाज़ी करते हैं तो आगे क्या करेंगे सो दिख ही रहा है इसपर से।"

मालती और वासंती के मुख की ओर मैं सिर्फ एकटक देखता रहा। क्या बोलूं यही मैं समझ नहीं पा रहा था। विवाह के पवित्र प्रसंग का मज़ाक उड़ानेवाली यह लड़की मेरे परिवार में निभेगी कैसे ? छि ! छि ! भगवान ही बचाए इससे तो !···

"क्यों जी, चुप कैसे हो गए ?" मालती बोली, "यह सच है न ? वासंती से आपका विवाह निश्चित हो गया है न ?"

मेरे दिमाग में एक विचार उठा। मैंने कहा, "निश्चित हो गया है, यह मैं कैसे कहूं ? मैं क्या इसे देखने गया था ? या कि मैंने इसकी कोई परीक्षा ली है ? अभी तक तो सगाई भी नहीं हुई !"

सभी लड़कियां ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगीं।

मालती बोली, "हां, अब ज़रूर आपने पते की बात कही। लड़की रोज़ दिखती है फिर भी क्या हुआ ? अगर उससे विवाह होना है तो उसे देखने जाना ही चाहिए। इस रस्म के अदा हुए बिना हमने जो यह समझ लिया कि विवाह तय हो गया, यह बेशक हमारी मूर्खता हुई इसमें शक नहीं।"

"हां, तो अब समझ गईं न ?" मैंने कहा, "मैं कोई सुधारक नहीं और नवमतवादी तो नहीं ही हूं। परम्परागत जो बातें होनी ज़रूरी हैं वे होनी ही चाहिए।"

"हां, यही न ?" वासंती बोली, "फिर आपको मुझे आकर देखने की कोई ज़रूरत नहीं। आपके काका आकर मुझे देख गए हैं। वर स्वयं आकर वधू को देखे, यह हमारी हिन्दू परम्परा नहीं। जेठे-सयाने आकर लड़की देखते हैं, उसे पसन्द करते हैं और विवाह तय करते हैं। वधू और वर की चार आंखें तो विवाहवेदी पर तब होती हैं जब उनके बीच का अंतरपट हटता है। यही है न हमारी आर्य-संस्कृति ? यही है न हमारी कुल-परम्परा ? फिर आपको आकर मुझे देखने का सवाल ही कहां खड़ा होता है ?"

अब इस छोकरी को क्या कहा जाए ? मुझसे इसका विवाह तय हुआ

है, फिर भी इतनी शरारत से मुझसे बातें कर रही है ?...

मैं चुप रहा। कुछ भी उत्तर न दिया। वे लड़कियां आपस में ही कानाफूसी कर रही थीं। मालती प्रत्येक लड़की के कान से मुंह लगाती और फिर प्रत्येक लड़की प्रत्येक लड़की के कान से मुंह लगाकर ज़ोर-ज़ोर से हंस रही थी। कैसा यह अनाचार ? कैसा यह अपमान ? मेरा मस्तक भन्ना उठा। क्रोध के आवेश में मैं चिल्ला उठा, "भागो तुम लोग यहां से!"

"आप कौन होते हैं हमें हुक्म देनेवाले ?" मालती बोली, "यह सार्वजनिक स्थान है। शहर के हर व्यक्ति को यहां आकर घूमने का अधिकार है। हम तो यहीं डटी रहेंगी। देखें, आप क्या करते हैं ?"

कुछ लड़कियां आकर मेरे सामने ही पालथी मारकर बैठ गईं, कुछ मेरी बगल में बैठीं और एक-दो तो उस पथरीली कुर्सी पर ही आ डटीं जिसपर मैं बैठा हुआ था।

मैं चुपचाप उठा और वहां से चल दिया।

१७

घर आया तब भी मेरा दिमाग ठिकाने पर नहीं था। सिर भी भन्ना रहा था। एक बार मन में आया कि वासंती से रेसकोर्स पर अभी कुछ समय पहले जो बातें हुईं वे काका को सुना दूं। पर प्रश्न यह था कि मेरे बारे में काका क्या सोचेंगे ? मेरी कमजोरी के लिए उन्होंने मुझे यही दोष दिया तो मैं उन्हें क्या जवाब दूंगा ? उनका यह ख्याल था कि पुरुष सर्व-सत्ताधीश है और अपने इस अधिकार को उसे हमेशा महसूस करना चाहिए। पुरुष को अपने इस अधिकार का अगर ठीक से ज्ञान हो, तो औरत कितनी भी शरीर हो फिर भी वह उसे ठीक राह पर ला सकता है। पुरुष को कानून का भी सहारा है। स्त्रियां जिस तरह संस्कृति की दृष्टि से पराधीन हैं उसी

तरह कानून की दृष्टि से भी परभृत हैं। संस्कृति और कानून इन दोनों का सहारा होते हुए भी पुरुष यदि कमज़ोरी दिखावे तो यह उसकी नामर्दी का ही लक्षण कहा जाएगा।

जबकि काका का यह निश्चित मत था तब मेरी कौन-सी दलील उन-पर असर कर सकती थी? और दलील भी आखिर मैं क्या पेश करता? क्या यह कहता कि वासंती ने मेरी बेइज़्ज़ती की? ऐसा कहना क्या मेरी दुर्बलता ही न मानी जाती?

क्या करूं यह मुझे सूझ नहीं पा रहा था। वह सारी रात मैंने तड़पते हुए गुज़ारी। काका ने यदि अपनी ज़िद पूरी की और वासंती से मेरा विवाह हो गया, तो मेरी खैर नहीं! विवाह मेरा होना था। काका की ज़िंदगी ही अब और कितनी बची थी? जिस किसीके साथ मुझे जीवन बिताना था, वह बिताना था मुझे। इसलिए अपनी जीवन-संगिनी को चुनने का मौका वास्तव में मुझे ही मिलना चाहिए था। काका ने यह मौका मुझे क्यों नहीं दिया?

मैंने अपने-आपको एक ज़ोर की चिकोटी काटकर देखा। ये कैसे फालतू विचार मेरे मन में आ रहे थे? 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इस स्मृति-वाक्य का आधार लेकर लेख पर लेख घसीटनेवाला मैं, वासंती से घबरा उठा? मैंने कल्पना करके देखा। इस लड़की को सीधे रास्ते पर मैं ला सकूंगा क्या? काका से इस काम में मुझे कितनी मदद मिलेगी? और आते ही उसने यदि धींगामस्ती करना शुरू कर दी, तो क्या दोनों के ही जीवन की बरबादी नहीं हो जाएगी? सुधारक और पुराणपंथी इन दो व्यक्तियों की जोड़ी जमेगी भी कैसे? काका के इस अविचार को अब क्या कहा जाए? गए और लड़की देखकर आ गए। लड़की ने भी उनके सामने ऐसा ढोंग किया होगा जैसे वह बिलकुल लज्जा की मूर्ति हो! काका प्रभावित हो उठे। उन्हें लगा, बड़ी शालीन लड़की है और उससे मेरा विवाह तय कर दिया! पर उस लड़की का सच्चा रूप मैं जानता हूं। मुझे मालूम है कि वह एक नम्बर की आज़ाद है, आवारा है और बहुत भड़क

गई है। मैं ऐसा साफ-साफ कह रहा हूं। पर मेरे इस कथन की ओर कोई ध्यान न दे, काका मुझे पुरुषों के अधिकार का ज्ञान देते हैं।

मुझे लगा, काका ही उससे विवाह करके देखें न ? आवारा लड़की को सीधी राह पर लाना कितना कठिन है इसका एक बार स्वयं ही ज़रा अनुभव लेकर देख लें…

पर यह सब मेरे निरे तर्क थे। विवाह हो जाने पर शरीर लड़कियों को सीधी राह पर आई मैंने देखा था। परन्तु उनकी आवारागर्दी इतनी चरम सीमा पर नहीं पहुंची थी। आज जैसी परिस्थिति उस ज़माने में न थी। कुछ वर्ष पूर्व की लड़कियां, सुधारक लड़कियां भी, शायद सीधी राह पर आकर पुराणपंथी बन गई होंगी। पर इस ज़माने की, आज का साहित्य पढ़कर आज़ादी की मस्ती में स्वैरता से उछलने-कूदनेवाली इन छोकरियों को सीधी राह पर लाना लोहे के चने चबाने के बराबर ही असंभव है! ऊपर से उनके लिए नये-नये कानून भी पास हो रहे हैं। कौन कह सकता है तलाक का कानून पास हो जाए और फिर ये छोकरियां तलाक भी मांगने लगें!

छि! छि! यह विचार ही छोड़ देना चाहिए।

विचारों के इस भ्रमण में ही मेरी आंख लग गई। उस नींद में अनाप-सनाप कल्पना-चित्र मुझे प्रत्यक्ष स्वरूप में नज़र आने लगे…

'वासन्ती से मेरा विवाह हो गया है। वह पद-पद पर मेरा अपमान कर रही है और मेरी काफी फज़ीहत हो रही है। यह देख काका तुच्छता से हंस रहे हैं। मामला कोर्ट तक पहुंच गया है। वासन्ती ने तलाक मांगा है। गवाही काका की है और काका खुल्लमखुल्ला मेरे खिलाफ गवाही दे रहे हैं और भरी अदालत में मेरी बड़ी फज़ीहत हो रही है…'

मैं घबराकर जाग उठा। मेरा सारा शरीर पसीने से तर हो गया था। मुझे लगा, काका से साफ-साफ कह दूं—उनके चरण पकड़ लूं, आंसुओं से उनके पैर भिगो दूं और उनसे कहूं कि जन्म-भर अविवाहित रहूंगा! पर भगवान के लिए ऐसी लड़की से मेरा विवाह न करें।

यदि कहीं सचमुच ही जाकर मैं काका से यह कह दूं तो वे क्या करेंगे? क्या वे मुझे एकदम घर से बाहर निकाल देंगे? क्या यह समझकर कि मैं नालायक हूं, वे मुझे लातें मारेंगे?

इस काल्पनिक भय से मेरे रोंगटे खड़े हो गए। क्या किया जाए, मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था। उसी घबराई हुई स्थिति में मेरी पुनः आंख लग गई।

दूसरे दिन आफिस में अगले अंक की तैयारी कर रहा था कि देवी आ पहुंची। संयोग से काका उस समय आफिस में नहीं थे। मेरा कलेजा धड़क रहा था। मेरे विवाह की बात कहीं देवी को तो नहीं मालूम हो गई? वह कुछ पूछे इससे पहले ही मैं खुद उसे चकित कर दूं, इस विचार से मैंने उससे कहा:

"क्यों, अब त्रावणकोर कब जा रही हो देवी?"

"यह क्या मेरे हाथ में है?" वह बोली, "जब भी जाने को कहा जाएगा, मुझे जाना ही होगा।"

"वह कौन तुम्हें देखने आनेवाला था," मैंने स्वर में व्यंग्य भरकर कहा, "वह आकर देख गया तुम्हें?"

"हां!" ऐसा कहकर देवी स्तब्ध रही।

मुझे अपने-आपपर ही शर्म आई। कितनी निष्ठुरता से मैंने उससे पूछा! जो लड़की मुझे पसन्द न थी, उसके साथ मेरा विवाह तय होते देख मैं बेचैन हो उठा हूं। कहीं देवी की भी तो यही स्थिति नहीं हो गई है?

"माफ करना देवी," मैंने कहा, "काका ने मुझे बताया था इसलिए मैंने पूछा तुमसे।"

देवी उदास मुद्रा से बोली, "हम स्त्रियों की जिन्दगी ही ऐसी है। जिस खूंटे से बांध दिया, उसीसे बंधी रहेंगी। जो जहां ले जाएगा, उसके साथ वहीं हमें जाना पड़ेगा। इसके बाद हमारा कुछ भी होता रहे, फिर किसे हमारी परवाह होती है!"

उसकी आंखें छलछला उठी थीं। मैं झट से खड़ा हो गया और बिलकुल

उसके सामने जाकर बोला, "देवी, तुम रो रही हो ?"

"तो क्या करूं ?" वह बोली। बोलते-बोलते वह सिसकी न रोक सकी।

इसी समय काका आए। काका को आया देखते ही उन्हें न दिखे इस अन्दाज़ से देवी ने आंखें पोंछीं और अपनी मेज़ के पास जाकर बैठ गई।

"क्यों, क्या विवाह निश्चित हो गया ?" काका देवी को लक्ष्य कर बोले। देवी चुप रही। काका बोल ही रहे थे, "शेषगिरराव ने कहा कि लड़के ने लड़की पसन्द कर ली है। भला देवी जैसी लड़की को कौन है जो पसन्द नहीं करेगा ! उसकी परीक्षा लेने की किसी लड़के में लियाकत भी है क्या !"

मैं हिम्मत करके बोला, "क्या आप देवी का विवाह ऐसे तरुण से कर देंगे जिसमें लियाकत नहीं ?"

काका आंखें फाड़कर मेरी ओर सिर्फ देखते रहे। फिर बोले, "तुम क्या बक रहे हो, इसकी कोई कल्पना भी है तुम्हें श्रीनिवास ? वह दीवान का लड़का है। एम० ए० पास है। एल-एल० बी० होनेवाला है। हो सकता है आगे चलकर दीवान भी हो जाए और फिर अपने लिए एकाध नौकरी प्राप्त करने को पिछवाड़े के दरवाज़े से देवी के पास अपना वसीला लगाने तुम्हें जाना पड़े।"

"भगवान करे ऐसा मौका ही न आवे !" मैंने होंठ चबाते हुए कहा, "यदि मुझे नौकरी कहीं न मिली तो भीख मांग लूंगा, पर किसीसे अपनी सिफारिश नहीं कराऊंगा।"

देवी उठी और सीधी बाहर चल दी। उसके जाते समय काका उसकी ओर देख रहे थे।

उसके आंखों से ओझल होने पर वे कुर्सी पर बैठे और नज़दीक पड़ा अखबार उठाकर उसे मुंह के सामने पकड़कर बोले, "क्या वह नाराज़ हो गई रे ? या कि उसे बुरा लग गया ? ये लड़कियां बड़ी मूर्ख होती हैं। खोजने से भी ऐसा लायक लड़का नहीं मिलेगा। लड़का बड़ा सेंटीमेंटल है। कहता

है दहेज नहीं लेगा। इतना भाग्य का रिश्ता क्यों हाथ से जाने दिया जाए? हमारे जब विवाह हुए थे उस समय हमारी पत्नियां कौन हमारी कोई पूर्व-परिचिता थीं? जब पति और पत्नी एक घर में आ जाते हैं तो पहचान हो ही जाती है और एक बार जहां पहचान हुई कि फिर जो कुछ होना है सो होता ही है। प्रेम-व्रेमवाली बात हमें नहीं जंचती। उसपर हमारा विश्वास नहीं। सहवास ही एक मार्ग है, इसीसे गृहस्थी सुखी होती है। अपनी गृहस्थी को सुखी किस तरह बनाया जाए, यह हर व्यक्ति को खुद समझ लेना चाहिए। अभी उसे बुरा लगेगा, मैं यह नहीं कहता कि बुरा न लगेगा, पर आगे जब उसे मातृ-पद प्राप्त हो जाएगा तो आज उसकी जो भावनाएं हैं उनका अता-पता भी न रहेगा।"

अपने हमजोली अनेक डिग्रीधारियों के विवाहों का हाल काका ने सुनाना शुरू किया। उनमें से प्रत्येक के दिमाग में उस वक्त भी प्रेम का पागलपन घुसा हुआ था, परन्तु विवाह हो जाने के बाद जिन-जिन लड़कियों के साथ उनके विवाह हुए, वे लड़कियां उनके लिए यद्यपि बिलकुल ही अपरिचित थीं, फिर भी उन सबकी गृहस्थियां बड़े सुख की हुईं—ऐसे कितने ही उदाहरण काका दे रहे थे।

मेरे सामने यह प्रश्न था कि विवाह के बाद जिनकी गृहस्थियां सुख की नहीं हुईं ऐसे उदाहरण क्या बिलकुल हैं ही नहीं? मेरे सामने ऐसे कितने ही उदाहरण थे। ऐसे मनुष्य बड़े इज़्ज़तदार हो गए थे। समाज में और सरकार में उनका बड़ा सम्मान था। पर घर में गृहस्थी का सुख न होने के कारण उन्होंने अविवाहित सम्बन्ध रखे थे···उनके ये सम्बन्ध पोशीदा नहीं थे—बिलकुल खुल्लमखुल्ला थे। दोनों घरों में उनका प्रपंच बढ़ रहा था—लड़के-बच्चों की एक फौज तैयार हो गई थी और आज वही लोग पेंशन लेकर बेलगांव में शान से घूम रहे थे—बूढ़े हो जाने पर भी उन्होंने अपने वे सम्बन्ध छोड़े नहीं थे! यही हैं क्या वे सुख की गृहस्थियां?

मैं अखबार के लिए लिखने की कोशिश कर रहा था। पर मुझे कुछ

सूझ नहीं पा रहा था। काका की ज़बान लगातार चल रही थी। मैंने कागज़ में देखा तो पाया कि अपने विचारों के बदले में मैं काका की बकवास ही लिख रहा था।

एक बार मन में आया कि लेख के नाम से काका की यह सारी बकवास ही प्रेस में दे दूं। इसी उधेड़-बुन में था इसी समय काका बोले, "देखो श्रीनिवास, तुम देवी को समझा दो। उसे चार उपदेश की बातें बताओ। चूंकि तुम दोनों करीब-करीब एक ही उम्र के हो, इसलिए दोनों दिल खोलकर बातें कर सकोगे। बुज़ुर्ग के नाते यदि हम लोग उसे कोई सलाह दें या उपदेश की बातें कहें, उसका असर उसके दिल पर उलटा पड़ेगा—ये आजकल की लड़कियां हैं!"

"यह मैं कैसे कर सकूंगा?" मैंने कहा, "अगर उसके घर जाऊं तो शेषगिरराव के सामने मैं उससे बातें नहीं कर सकूंगा। अगर चार उपदेश की बातें उससे यहां कहूं तो यहां भी वह संभव नहीं, क्योंकि यहां आप बैठे रहते हैं। एकान्त कहीं मिले तभी दिल खोलकर बातें हो सकती हैं।"

"हां, यह सच है।" काका बोले, "आज दोपहर मैं यहां आऊंगा ही नहीं..."

अखबार लिए काका घर में चल दिए। हाथ की कलम नाक के सामने पकड़कर दोनों आंखों से उसकी ओर निहारता हुआ मैं पागल की तरह बैठा रहा। उस स्थिति में कोई अगर मुझे देखता तो क्या कहता? मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था। मन की बात को खोलकर कैसे कहूं? क्या काका के सामने अपना मन खोलकर रख दूं?

पर क्या उन्हें मेरी बात जंचेगी? क्या काका यह पसंद करेंगे कि जो लड़की दीवान के घर बहू बनकर जा रही है, वह दूसरे की भलमनसियत पर पोसे जानेवाले, अनाथ और अविद्वान लड़के से विवाह करे? क्या शेषगिरराव भी इसे पसंद करेंगे? मन कौन देखता है? सब लोग धन देखते हैं—डिग्रियां और पद देखते हैं! पर क्या अमीरी में सुख होता है? क्या डिग्रीधारियों और पदाधिकारियों की ज़िन्दगी संतोष की होती है? मैं

क्या सलाह दूं देवी को ? किस मुंह से समझाऊं उसे ?

मुझे लगा कि उपदेश करने का अधिकार मुझे है, पर क्या मैं उसे इस प्रकार का उपदेश दूं ? क्या उपदेश दूं ? क्या यह कहूं कि वह अपने चाचा की बात मान ले ? क्या यह कहूं कि उसकी किस्मत में अगर वही लड़का बदा है तो अब क्या हो सकता है ? क्या 'दैवाल्लब्धेन संतोषम्' इस मंत्र का उपदेश करूं ? मेरा मन जिस तरह तरुण था उसी तरह देवी का भी था। उस दीवान के लड़के के गले में सुख और संतोष से वरमाला पहना दो, ऐसा मैं उससे किस मुंह से कहूं ? तरुणों के मन की मुझे क्या कुछ परख ही नहीं ?

तीसरे पहर देवी आई और चुपचाप मेज़ के पास जाकर लिखने लगी। काका नहीं आए थे और न उनके आने की कोई आशा ही थी।

मेरा मन असमंजस में पड़ा था। सोच रहा था, बोलूं या न बोलूं ? बोलने की हिम्मत नहीं हो रही थी। बहुत समय बीत गया। उसने एक घंटा लिखकर मेरे सामने जब कागज़ लाकर रखे, तब मैंने कहा, "देवी, तुम्हारी आंखें फूली हुई लग रही हैं ! क्या रो रही थीं तुम ?"

देवी कुछ न बोल अपने स्थान पर जाकर बैठ गई। मैंने उठकर अपनी कुर्सी उसके पास खींच ली और सामने बैठकर कहा, "देवी, तुम्हारा जो रिश्ता हुआ है वह क्या तुम्हें पसंद नहीं ?"

मेघाच्छादित आकाश में जिस तरह एकाध सूर्य-किरण की रेखा चमक जाए, उस तरह हंसकर देवी बोली, "और तुम्हें वह रिश्ता पसंद है क्या ?"

मैं स्तंभित हो गया।

"कौन-सा ?" मैंने कहा।

"वासंती से तुम्हारा विवाह तय हुआ है न ?" देवी ने पूछा।

मन को पक्का करके मैंने कहा, "मुझे न पसंद होने को क्या हुआ ? वासंती अच्छी सुन्दर है, पढ़ी-लिखी है, होशियार है, स्मार्ट है···"

"ऐसा ?" देवी गरदन झुकाकर बोली, "तो फिर वह तुम्हें पसंद है ?"

"ऐसा मैंने कहां कहा ? मैंने सिर्फ उसका वर्णन किया। काका को वह पसंद आई है। तीन हज़ार रुपये दहेज में दे रहे हैं और फिर इतनी गोरी लड़की हमारी जाति में मिलना कठिन है, है न ?"

"तुम्हारी उससे पट जाएगी ?" देवी ने मेरी ओर न देखकर ही पूछा।

"अगर कहीं की कोई दूसरी अपरिचित लड़की होती, उसका स्वभाव कैसा है यह मैं न जानता होता और उससे मेरा विवाह तय हुआ होता, तब यह प्रश्न कहां उठता ? यही समझकर चुप रहना चाहिए।"

"हां, सच है।" देवी एकदम मेरी आंखों में आंखें डालकर बोली, "क्या तुम्हें वह रिश्ता मन से स्वीकार है ?"

मैंने गरदन झुका ली। फिर गरदन ऊपर उठाकर ही मैंने कहा, "तो फिर मैं क्या करूं ? मैं पराधीन हूं। काका की आज्ञा को टालना मेरे लिए संभव नहीं, मुझमें उतना साहस ही नहीं।"

"अगर मैं अपने चाचाजी की आज्ञा को ठुकरा देने का साहस करूं, तो मेरे बारे में क्या सोचोगे ?" देवी ने कहा।

"मैं तुम्हारी तारीफ करूंगा..." मैंने यह एकदम कह तो दिया, पर बाद में मुझे पश्चात्ताप हुआ।

देवी एक क्षण के लिए मेरी ओर देखती रही, फिर हंस पड़ी—एक बार फिर 'उसी तरह' हंसी। मेरे सारे बदन को रोमांच हो गया। छिपाऊं क्यों ? लगा, देवी का हाथ पकड़कर उसे नज़दीक खींच लूं और फिर...

देवी की भी कुछ इसी तरह की विचित्र स्थिति हो गई होगी। वह घबराई-सी स्थिति में उठकर खड़ी हो गई और एकदम कमरे से बाहर चल दी।

शाम को मैं घूमने गया। उस समय नित्य की भांति लड़कियों का वह दल मुझे वहां न दिखा।

घर आया तो मुझे पता लगा कि देवी के पेट की बीमारी अचानक बढ़ जाने के कारण डाक्टर की सलाह से शेषगिरराव उसे बंबई ले गए हैं।

१८

देवी के अचानक बीमार होकर बम्बई चले जाने से मेरे मन पर जितना प्रभाव हुआ उतना ही मेरी बुद्धि पर भी हुआ। मेरे मन में यह पक्की तरह ठस गया कि ज़बरदस्ती के विवाह के कारण ही देवी बीमार हो गई और मुझे इसपर आश्चर्य हुआ कि इतने थोड़े ही समय में उसकी बीमारी इतनी चरम सीमा को कैसे पहुंच गई? आफिस में उसने मुझसे जो बातें की थीं वे अभी तक मेरे कानों में गूंज रही थीं।

उसके अपने ही घर में वह एक प्रकार से एकाकिनी हो गई थी। वहां एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो उसपर हृदय से अपना स्नेह लुटाता। मेरे मन में अक्सर आता था कि उसके पास जाऊं और उससे सुख-दुःख की बातें करूं। पर मेरे लिए ऐसी कोई सहूलियत ही नहीं थी। इस प्रकार अपने ही घर में पराई-सी रहने के कारण उसकी वृत्ति थोड़ी चिड़चिड़ी-सी हो गई थी। मन ही मन वह कुढ़ा करती थी और इस कुढ़न के कारण ही हमेशा मुरझाई-सी रहती थी। मुझे लगा, उसके मन की यह स्थिति ही उसकी बीमारी बढ़ाने के लिए कारणीभूत हुई है।

मुझे क्रोध हो आया और उस क्रोधावेश में ही मैंने हिन्दुओं की विवाह-पद्धति के विरुद्ध एक ज़ोरदार लेख घसीट मारा और उसे अपने 'सच्चा हिन्दू' पत्र में छापकर प्रकाशित भी कर दिया। पर उसका असर अलबत्ता बड़ा ही विलक्षण हुआ।

'सच्चा हिन्दू' पत्र में आर्य-संस्कृति की विवाह-पद्धति पर निष्ठुर आघात होते देख पुरानी परम्पराओं के अभिमानी सभी पुराणपंथी लोग गुस्से से बौखला उठे। काका तो आगबबूला होकर बोले, "यह लेख यदि मैं पहले देख लेता तो प्रेस में जाने ही न देता। मुझे हर लेख को देखने की जरूरत थी, बल्कि यह मेरा कर्तव्य था। पर यह कर्तव्य मैंने नहीं किया। इसलिए पहली गलती मेरी ही है। चूंकि तुम्हारा काम अच्छा सुचारु रूप से चल रहा था, इसलिए मैंने सोचा, मैं क्यों व्यर्थ बीच में हस्तक्षेप करूं और

इसीलिए मैं कोई दखल नहीं देता था। अब उसीका यह परिणाम हुआ कि आज मेरी बेइज़्ज़ती हो गई। इससे तो अच्छा यही था कि अखबार ही न निकलता, ऐसा मुझे अब लगने लगा है। तुम नौजवान छोकरों पर विश्वास करना एक बड़ी मूर्खता है।"

काका बहुत क्रोधित हुए। मुझे उन्होंने खूब खरी-खोटी सुनाई। पर मैं इतना बेशर्म हो गया था कि उनकी डांट-डपट का मेरे मन पर कोई प्रभाव न पड़ा। मेरे स्वयं भी उसी परिस्थिति में होने के कारण देवी के दुःख की कल्पना मुझे वस्तुतः हो गई थी और इसीलिए मैंने वह लेख लिखा था।

जहां-तहां से पत्र आने लगे। बहुत-से ग्राहकों ने समाचारपत्र बन्द करने का नोटिस दिया।

मुझे भी पत्र से घृणा हो गई थी।

देवी का कोई समाचार मुझे नहीं मिल रहा था। शेषगिरराव मुझे क्यों पत्र भेजते? मेरा क्या सम्बन्ध था? क्यों वे देवी की बीमारी का समाचार मुझे पत्र द्वारा देते? काका से भी उनका कोई इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था कि देवी के बारे में वे उन्हें भी कुछ लिखते। दोनों में सिर्फ मामूली मित्रता थी। इसलिए काका को भी उन्होंने कोई समाचार नहीं भेजा था।

देवी का कोई समाचार प्राप्त न होने के कारण मैं बेचैन हो उठा था। इसलिए मैंने बम्बई के माधवाश्रम के पते पर शेषगिरराव को एक पत्र भेजा। उसका उत्तर आने तक मुझे चैन नहीं था।

आज बहुत दिनों से मैंने शाम का घूमना प्रायः बन्द-सा कर दिया था, पर जिस दिन शेषगिरराव को खत लिखा उस दिन मन इतना उद्विग्न हो गया कि घर में मुझसे बैठा नहीं जा रहा था। इसलिए मैं घूमने रेसकोर्स चल दिया।

वहां मुझे वासन्ती मिली जो उस दिन वहां बिलकुल अकेली ही घूमने आई थी। उसे देखते ही मेरे तलवे-से जैसे आग लग गई। मुझे लगा, इसीके

कारण यह सब हुआ !

सच पूछा जाए तो उस बेचारी का क्या सम्बन्ध था ? परन्तु देवी के बीमार पड़ जाने का कारण मैं अपने सिरफिरेपन से उसीसे जोड़ने लगा। क्यों जोड़ने लगा यह मैं स्वयं ही नहीं समझ पा रहा था।

वह सामने आकर खड़ी हो गई फिर भी मैंने उसकी ओर झांककर भी न देखा। विवाह की बातें अभी हो रही हैं और ऐसे समय इस खुले स्थान पर उसका मेरे सामने आकर खड़ा हो जाना मेरे मन को कुछ अच्छा न लगा। मैं चुप था।

"बोलते क्यों नहीं ?" वासन्ती ने बड़ी कोमल आवाज़ में कहा। उसके स्वर की कोमलता मुझे महसूस हुई और सहज ही मेरी निगाह उसपर गड़ गई। मैंने देखा, उसकी आंखों से आंसू आ रहे हैं !

"तुम रो रही हो वासन्ती ?"

"क्यों न रोऊं ?" वह बोली, "इतने दिन हो गए, देवी की कोई खबर नहीं मिली। उसके घर गई। वहां पूछताछ की तो वहां भी कोई कुछ नहीं बताता। सोचा, आपको कुछ मालूम होगा। इसलिए रोज़ यहां आती थी, पर यहां आपका ही पता न था। आफिस आकर आपसे मिलती तो जनदृष्टि से वह उचित न जान पड़ता···।"

"और अब यूं चौराहे पर आकर जो मुझसे पूछ रही हो, तो यह उचित दिखता है क्या ?" मैंने पूछा।

"आपके घर जाकर पूछने से यहां पूछना अच्छा है, इसमें शक नहीं।" वासंती होंठों तक आई सिसकी को निगलकर बोली, "आपको कुछ पता लगा है क्या ?"

"इस विषय में तुम्हारी और मेरी स्थिति एक समान ही है।" मैंने उत्तर दिया, "शेषगिरराव पर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ! कम से कम घर में तो उन्हें कुछ खबर भेज देनी चाहिए थी। मुझे न ही भेजी तो न सही ! मैं कौन होता हूं ? मेरा क्या सम्बन्ध ? वह मेरे मामा की लड़की है सही, पर रिश्ते का सम्बन्ध अब कहां रहा है ? सहवास का स्नेह रिश्ते के स्नेह

से भी अधिक होता है, इसीलिए उसकी खबर पाने के लिए मेरे प्राण तड़प रहे हैं। आज ही मैंने शेषगिरराव को खत लिखा है।"

मैं नित्य की भांति पथरीली कुर्सी पर बैठा था। वासन्ती भी अब उसी कुर्सी पर मुझसे काफी दूर आकर बैठ गई। मुझे संकोच हो रहा था। पर जब वह बैठ ही गई तो मुझे यह कोई अच्छा नहीं लगा। उसी तरह चुलबुलाता हुआ मैं जहां बैठा था वहीं रहा।

"एक प्रश्न पूछूं आपसे ?" वासन्ती बोली, "यह जो चल रहा है इसके बारे में आपका क्या ख्याल है ?"

"क्या चल रहा है ?" मैंने चिढ़कर पूछा।

"यही अपने ब्याह के बारे में !" वासन्ती बोली।

"तुममें कुछ इनसानियत भी है ?" मैंने क्रोध का आवेश लाकर पूछा, "विवाह होना या न होना, यह न तुम्हारे हाथ में है और न मेरे हाथ में। हमारे भाग्य के सूत्र बुज़ुर्गों के हाथ में हैं। वे जो करना चाहेंगे वही होगा।"

"सो तो ठीक है," वासन्ती शान्ति से बोली, "पर क्या आपको यह पसन्द है ? आपकी सम्मति है क्या इसके लिए ?"

"तुम्हारी भी सम्मति है क्या ? क्या इस विषय में किसीने पूछा था तुमसे ?"

"मुझसे किसीने भी नहीं पूछा। हमारे घर के लोग ऐसी बात क्या कभी पूछेंगे मुझसे ?"

"फिर क्या तुम्हारा किसी दूसरे पर प्रेम है ? हां, यदि ऐसी कोई बात हो तो पहले से ही बता देना अच्छा, जिससे उस 'खिलती कली' उपन्यास सरीखी हमारी कहानी न बन पाए !"

"मेरा तो अभी तक किसीसे भी प्रेम नहीं जमा।" वह गरदन झुकाकर बोली, "पर आप स्वतन्त्र नहीं हैं, यह अलबत्ता मैं जानती हूं—शायद आप न जानते हों।"

मैं आश्चर्यचकित हो गया। क्षण-भर के लिए मैं उसकी ओर सिर्फ

देखता रहा। उसने झुकी गरदन ऊपर नहीं उठाई।

"…मतलब ?" मैंने पूछा, "क्या किसीने तुमसे कहा है कि मैं किसी दूसरी लड़की से प्यार करता हूं ?"

"नहीं। ऐसा तो नहीं है…"

यह देख कि वह कुछ भी नहीं बोल रही है मैंने पुनः पूछा, "ऐसा नहीं है तो फिर कैसा है ? तुम्हारे प्रश्न का अर्थ क्या है ? मुझपर कौन-सा आरोप थोपना चाहती हो तुम ?"

"वह मैं स्पष्ट रूप से नहीं कह सकती," मेरी ओर न देखते हुए ही वह बोली, "पर आप स्वतन्त्र नहीं। प्रेम या हक की दृष्टि से कोई दूसरी आपकी ओर देख रही है, पर इसका शायद आपको कोई ज्ञान नहीं है।"

मैं आगे और भी कुछ पूछनेवाला था, पर इसी समय वह झट से उठ पड़ी और एकदम चल ही दी। मेरे मन में आया कि उसे पुकारूं, पर इसी समय गंगाधर सामने से आता हुआ दिखाई दिया और मेरी ज़बान पंगु हो गई।

हंसता हुआ सामने आकर वह बोला, "वाह ! वाह ! आप तो 'सच्चा हिन्दू' के सम्पादकजी हैं ? पुराणपंथियों के अग्रणी ? और ऐसे खुले मैदान में बैठकर प्रेमालाप करते हो ? यदि कोई मुझसे आकर आपके बारे में ऐसी बात कहता तो मैं उसे कभी सच ही न समझता। पर…"

"आग लगाओ उस पुराणपंथीपन को और उस प्रेमालाप को। इस हिन्दुस्तान में जन्म लेने की अपेक्षा अफ्रीका में जन्म लेना क्या बुरा ? और फिर हिन्दू के घर में जो जन्म ले उस जैसा अभागा मनुष्य दूसरा कोई नहीं…"

"अरे वाह !" गंगाधरराव व्यंग्य-भरे स्वर में बोला, "हिन्दू पर इतने क्यों उलट पड़े भई ? क्या 'सच्चा हिन्दू' के सम्पादकजी ही कह रहे हैं यह ?"

"हां, हां। 'सच्चा हिन्दू' पत्र का सम्पादक ही बोल रहा है यह। 'सच्चा हिन्दू' इस शब्द का अर्थ आज तक मेरी समझ में नहीं आया

था—पर मैं यह नहीं कहता कि अब मैं उसे समझ गया हूं—परन्तु उसका सच्चा अर्थ अब मैं समझ जाऊंगा ऐसा मुझे लगने लगा है।"

"अर्थ समझने की बात छोड़िए। अभी यह बताइए कि जिस लड़की से आपका विवाह निश्चित हुआ है, उसके साथ विवाह के पहले इस तरह एकान्त में प्रेमालाप करना क्या आपके उच्च ध्येय को शोभा देता है ?"

"अजी, वह प्रेमालाप नहीं था," मैंने कहा, "वह प्रेमालाप का श्राद्ध था···"

मेरे इन उद्गारों का गंगाधरराव के मन पर प्रभाव पड़ा। थोड़ा स्वर बदलकर वह बोला, "क्यों, क्या हुआ ?"

"क्या हुआ, यह यदि मुझे मालूम हो जाता तो क्यों ऐसा प्रश्न पूछता? लगता है, जनेऊ तोड़कर फेंक दूं, चुटिया काटकर सिर मुंडवा लूं और संन्यासी बनकर कहीं दूर चला जाऊं।"

गंगाधर के चेहरे पर थोड़ी हास्य की छटा चमक उठी। पर मेरी मन-स्थिति का ख्याल कर, वह स्वर बदलकर बोला, "यदि मुझसे कहने लायक हो तो कहिए। यदि कोई उपाय बता सका तो अवश्य बताऊंगा···"

"आपसे क्या कहूं ? तुम्हारे हिन्दू कानून में स्त्री-जाति पराधीन है ऐसा लोग कहते हैं। परन्तु स्त्री-जाति की अपेक्षा भी मैं अधिक पराधीन हूं। काका की सज्जनता पर ही मेरी सारी ज़िन्दगी अवलम्बित है। उन्होंने मेरे लिए एक धंधा निकाल दिया है, एक छापाखाना खोल दिया है, एक समाचारपत्र निकाल दिया है। यद्यपि यह पत्र सिर्फ इस उद्देश्य से नहीं निकाला गया है कि उससे मेरी उपजीविका चले, फिर भी मुझे लगता है कि यही मेरा एक धंधा हो बैठेगा और आगे चलकर मुझे अपनी उपजीविका के लिए काका पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। परन्तु यह पत्र दिन-प्रतिदिन गिर रहा है। वह कब बन्द हो जाएगा इसका कोई ठिकाना नहीं। देवी मेरी मदद करती थी, सो वह भी बीमार होकर बम्बई चल दी···" और मैं एकदम चिड़चिड़े स्वर में बोला, "और उसका क्या हुआ है इसका मुझे बिलकुल ही पता नहीं चल पाता···"

"इस तरह क्रोध न कीजिए।" मेरे कंधे पर हाथ रखकर गंगाधरराव बोला, "पर अभी वासंती क्या कह रही थी?"

"वही तो मैं नहीं समझ पाया न?" मैंने चिढ़कर कहा, "वह नहीं चाहती कि मेरे साथ उसकी शादी हो। इतना ही मैं जान सका। और मैं भी नहीं चाहता कि मेरी उससे शादी हो। परन्तु हम दोनों के बुज़ुर्गों ने यह शादी तय कर डाली है। सिर्फ मुहूर्त निकालना ही बचा है। कल अगर मुझे पकड़कर विवाह-वेदी पर खड़ा कर दिया तो मैं क्या कर सकूंगा, इस कठिनाई में मैं इस समय पड़ा हूं।"

"फिर आप अपने काका से यह साफ-साफ कह क्यों नहीं देते?" गंगाधरराव ने पूछा।

"कैसे कह सकता हूं?" मैंने भरे कंठ से कहा, "काका हुक्म दें और मैं चुपचाप उसका पालन करूं, इस स्थिति में मैं आज तक बढ़ा हूं। उनके खिलाफ एक शब्द भी बोलने की मुझे आदत ही नहीं···"

"क्या उस समय भी नहीं जब कि आपकी पूरी ज़िन्दगी का सवाल है? कितने दिनों तक आप यह संकोच पाले रहेंगे? अजी जनाब, ये जन्म-जन्म की गांठें हैं। ऐसे समय यदि आप संकोच से चुप रह गए तो आपके जीवन का क्या सत्यानाश ही नहीं हो जाएगा? और आपके साथ वासंती के जीवन का भी···"

"ऐसे कितने ही पति-पत्नियों का सर्वनाश हो चुका है। पर समाज में किसे इसकी परवाह है? उन हज़ारों पति-पत्नियों में हम दोनों भी एक हज़ार एक हो जाएंगे। मेरा जो भी होना होगा सो होता रहे, पर काका के सामने चींचपड़ करने की मुझमें हिम्मत ही नहीं।"

मेरी पीठ पर थाप मारकर गंगाधरराव बोला, "क्या मैं पूंछू आपके काका से? नहीं, क्या मैं उनसे साफ-साफ जाकर कह दूं कि यह रिश्ता आपको पसंद नहीं?"

"कृपा कर मुझपर इतनी दया करो कि कहीं ऐसा ऊटपटांग काम न कर बैठना।" मैंने घबराकर कहा, "इससे निष्पन्न कुछ भी नहीं होगा,

उलटे मुझपर रोष हो जाएगा काका का।"

गंगाधरराव इसपर कुछ न बोला। मैं भी आखिर क्या कहता? चुप-चाप सिर्फ बैठा रहा।

मुझे शक हुआ—वासंती के प्रति इसका कहीं न कहीं थोड़ा आकर्षण है। मैंने पूछा, "वासंती के बारे में इतना खोद-खोदकर तुमने क्यों पूछा?"

"सच बताऊं?" गंगाधरराव गंभीरता से बोला, "वासंती की इच्छा क्या है, इसकी मुझे कोई कल्पना नहीं; पर मुझे ऐसा लगता है कि विवाह-बंधन में यदि हम दोनों बंध जाएं तो हमारा जीवन सुखी होगा।"

"फिर उसे लेकर कहीं भाग जाओ न!" मैंने कहा, "और वहीं जाकर दोनों विवाह कर लो। वासंती कोई 'माइनर' तो है नहीं।"

गंगाधरराव आंखें फाड़कर मेरी ओर सिर्फ देखता रहा। फिर बोला, "क्या आप ही कह रहे हैं यह?"

"हां, मैं ही कह रहा हूं। यह पुराणपंथी श्रीनिवास—परिस्थितियों से सताया हुआ हाड़-मांस का एक मनुष्य—कह रहा है! तुम सुखी होगे और मेरे पीछे का यह जंजाल छूटेगा।"

"थैंक यू!" सिर्फ इतना कहकर गंगाधर एकदम वहां से चल दिया। मेरे सामने प्रश्न खड़ा हुआ—क्या यह मनुष्य सचमुच ही वासंती को लेकर भाग जाएगा? क्या उसके दिमाग में यह विचार आया था? क्या वह इसीकी राह देख रहा था कि कोई उसके विचार का समर्थन करे? क्रोध के आवेश में मेरे मुंह से सहज ही यह बात निकल गई, तो उसका फायदा उठाकर यह शख्स क्या सचमुच ही ऐसा कोई साहस कर बैठेगा? कौन कह सकता है? ये नवमतवादी लोग कब क्या कर गुज़रें, इसका कौन ठिकाना?

मुझसे सिर्फ यह कहने की कि 'वासंती से मेरा विवाह न कीजिए,' हिम्मत नहीं हो रही थी और गंगाधर था जो उसे भगा ले जाने को तैयार हो गया! कैसा आश्चर्य है! इसे क्या कहा जाए? उसका साहस या मेरी कमज़ोरी?

मेरे मन में भी भावनाएं उठ रही थीं उन्हें मैं काका से नहीं कह सका था, तो क्या यह मेरी कमज़ोरी थी ? या कि मेरा पुराणपंथीपन था ? अथवा पुराणपंथीपन के प्रति झूठे अभिमान के कारण मैंने अपने विचार-स्वातन्त्र्य पर ज़बरदस्ती रोक लगा ली थी ?

जैसे-जैसे में विचार करने लगा वैसे-वैसे अपनी कमज़ोरी मुझे जंचने लगी।

१६

मैं पागल-सा हो उठा था। शेषगिरराव से मेरे पत्र का कोई उत्तर अभी तक नहीं आया था और इधर मेरे विवाह का मुहूर्त निश्चित हो रहा था। वासंती के पिता हमारे घर आते और काका के साथ बड़ी देर तक बातें करते रहते। पर मुझसे आज तक किसीने कुछ भी नहीं पूछा था।

मेरे सामने प्रश्न खड़ा हुआ—ये किसके विवाह की बातें हो रही हैं ? यदि मेरे विवाह के बारे में बातें हो रही हैं तो मुझसे भी कुछ क्यों नहीं पूछा जाता है ? मैं कोई पन्द्रह-सोलह वर्ष का लड़का नहीं हूं। पुराणपंथी हूं तो क्या हुआ ? यदि उम्र में छोटा होता तो बात ठीक भी थी। पर पुराणपंथीपन की भी एक सीमा होती है। उस सीमा को पार कर मैं अब छब्बीस वर्ष का हो गया हूं। इस लम्बी उम्र तक मैं अविवाहित रहा। अपनी दृष्टि से मैं कामकाजी पुरुष हूं। अपना भला-बुरा समझता हूं। इसके बावजूद मेरे विवाह का ये लोग मुझे अता-पता भी नहीं चलने दे रहे हैं !

एक दिन जब वासंती के पिता चल दिए और काका आफिस में आए तो उनका चेहरा खिला हुआ था। वे बोले, "आज मुहूर्त भी पक्का हो गया। आगामी नवमी की शाम को विवाह होगा। पर मुश्किल यह है कि हमारे घर में कोई स्त्री नहीं ; और यही हालत शेषगिरराव के घर में भी है।

इसलिए मैं बड़े सोच में पड़ गया हूं। विवाह एक मंगल कार्य होता है और किसी सुहागिन के घर में हुए बिना उसकी अनेक धार्मिक विधियां हो नहीं सकतीं। शेषगिरराव के कुछ रिश्तेदार पूना में हैं। वे उन्हें बुलावा भेज रहे हैं। उनमें एक-दो सुहागिन स्त्रियां भी आएंगी। पर समस्या हमारे घर की है। वैसे बीजापुर में मेरे भी कुछ दूर के रिश्तेदार हैं। उन्हें पत्र लिखकर बुलाना होगा···" वे और भी बहुत-सा बक रहे थे। पर मुझे कुछ भी सुनाई नहीं पड़ रहा था। मैं यूंही चुप बैठा हुआ था। यह देख वे बोले, "अरे, मैं क्या बोल रहा हूं, तुम्हें क्या सुन नहीं पड़ रहा है? विवाह तुम्हारा होना है, मेरा नहीं···"

"यही तो मैं नहीं जानता कि विवाह किसका हो रहा है?" मैं चट-से कह बैठा और फिर जीभ काट ली।

"क्या कहा?" काका बोले।

मुझे लगा मेरे शब्द उन्होंने सुने नहीं। इसलिए पुनः झट से बोला, "इस विषय में मुझे क्या करना है? आप बुजुर्ग हैं। आप ही ने सब तय किया है। फिर बीच में मैं क्यों कुछ बोलूं?"

"अच्छा, यह बात है?" काका शान्त होकर बोले, "मैंने कुछ और ही सुन लिया था···हां, तो बीजापुर को पत्र लिखना चाहिए···तुम्हारा पत्र तो ठीक से चल रहा है न? देवी के चले जाने से सारे काम का भार तुम्हींपर आ पड़ा है यह मैं जानता हूं। पर इसके लिए कोई उपाय नहीं। तुम्हारे लिए कोई सहायक मिलना फिलहाल संभव नहीं···" इस तरह कहते-कहते काका चल दिए।

मुझे लगा, बला टली।

शाम जब घूमने गया तो देखा, टेकड़ी के नीचे गंगाधरराव और वासंती बैठे बातें कर रहे हैं। एक-दो बार मन में आया कि मैं भी उनके पास जाऊं, परन्तु बाद में सोचा कि वहां जाकर उनका एकान्त भंग करना उचित न दिखेगा। इसलिए चुपचाप घर चल दिया। मेरे वहां से जाने के बाद भी वे दोनों उसी तरह बातें करते बैठे थे।

दूसरे दिन सुबह सारे बेलगांव में सनसनी फैल गई।

गंगाधरराव और वासंती दोनों ही शहर से गायब हो गए थे। लोगों ने अंदाज़ लगाया कि दोनों ही भाग गए होंगे। इस अन्दाज़ के लगाने का कारण यह था कि शहर में गंगाधरराव भी नहीं था और वासंती भी नहीं थी। दोनों ही लापता थे।

रात नित्य की भांति खाना खाकर वासंती अपने कमरे में जाकर सो गई थी। इस कारण, वह भाग जाएगी, इसका किसीको शक न हुआ था। कोई संभावना भी नहीं दिख रही थी। पर रात को वह कब उठी और किस तरह घर से बाहर चल दी इसका किसीको अता-पता भी न चला।

सुबह चाय के वक्त जब वह नीचे नहीं आई तो घर के किसीने जाकर उसे जगाना चाहा। पर कमरे में उसका बिस्तर खाली पाकर सब स्तंभित रह गए। फिर उसकी खोज शुरू हुई। पहले शहर के सब कुओं में बांस डाले गए। वह जिन-जिन सहेलियों के घर जाती थी उनसे पूछताछ की गई; पर कहीं पता न चला। तब स्टेशन जाकर पूछताछ की। गंगाधरराव स्टेशन मास्टर का परिचित होने के कारण उसने बताया कि गंगाधरराव रात की गाड़ी से कहीं गया है और उसके साथ एक लड़की भी थी। तब वही लड़की वासंती होगी ऐसा सबने अन्दाज़ लगाया। करीब-करीब सबको विश्वास हो गया कि गंगाधरराव और वासंती दोनों भाग गए हैं।

मुझे बड़ी खुशी हुई। काका की जो स्थिति हुई उसका वर्णन करना ही संभव नहीं। जब वासंती का पिता आया तो उसपर वे एदकम बरस पड़े, "मेरी बेइज़्ज़ती कर दी तुमने। मुहूर्त भी निश्चित कर बैठा हूं। निमंत्रण-पत्र भी भेज दिए हैं, और अब यह सुनाने को आए हो? शर्म नहीं आती तुम्हें? तुम्हारी लड़की किसी दूसरे के साथ भाग गई, अब लोग मुझे क्या कहेंगे? जिस लड़की को मैंने अपने भतीजे के लिए पसंद किया, वह दूसरे के साथ भाग जाती है, इसका क्या मतलब? एक लड़की भी तुम नहीं संभाल सकते! कल तुम्हारी औरत भी किसीके साथ भाग जाएगी। जो मनुष्य अपने घर के लोगों को कब्ज़े में नहीं रख सकता उसे पागलखाने में

ही भरती कर देना चाहिए।"

मुझे आनन्द के उफान पर उफान आ रहे थे। जी कर रहा था कि नाक पर उंगली रख काका को खूब मुंह चिढ़ाऊं।

वासन्ती के बाप के जाते ही काका की नज़र मेरी ओर मुड़ी। मैंने तुरन्त ही चेहरा बदला और दोनों हाथों पर सिर रख मेज़ पर कुहनियां टिकाकर बैठ गया।

काका बोले, "तुम्हें मैंने व्यर्थ ही संकट में डाला, श्रीनिवास! यह छोकरी ऐसी निकलेगी इसकी मुझे कोई कल्पना ही नहीं थी। उसके बाप की बातों पर मैं विश्वास रखता रहा। मुझे उस लड़की के बारे में बाहर भी कुछ पूछताछ करनी थी, यह मैंने नहीं किया। यह भी मेरी एक भूल हो गई। अब सभी आकर मुझसे कहते हैं कि वह लड़की खुल्लमखुल्ला गंगाधरराव को साथ लेकर इधर-उधर भटका करती थी। जब मैं विवाह की बातें कर रहा था तब ये साले क्या सोते थे? अगर उसी वक्त उन्होंने आकर मुझसे ऐसी कोई बात कही होती तो मैं क्यों विवाह का मुहूर्त पक्का करता? पर अब बोलने में क्या अर्थ? पर जो हुआ सो अच्छा ही हुआ। विवाह के बाद भाग जाने की अपेक्षा पहले ही भाग गई, यह ठीक ही हुआ।"

इतना कहकर काका चल दिए। इसी समय पोस्टमैन आया और डाक दे गया। मैं डाक देखने लगा। उसमें मेरे पते पर आया शेषगिरराव का पत्र मिला। पत्र खोलने की मुझे हिम्मत नहीं हो रही थी। भगवान जाने भीतर क्या लिखा होगा? कोई बुरी-भली खबर तो न होगी? पत्र लेकर कितनी देर मैं उसे सिर्फ देखता रहा था।

अन्त में खोला उसे, और देखा तो उसमें दो पत्र थे—एक शेषगिरराव का था और उसके भीतर बन्द एक लिफाफे में दूसरा पत्र भी था।

देवी का पत्र मेरे नाम! क्या लिखा होगा उसमें?

शेषगिरराव का पत्र मैंने न पढ़ा। पहले देवी का पत्र खोला।

ऊपर सिरनामे में लिखा था सिर्फ "नमस्ते!" बाद में मज़मून था—"मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। आपरेशन का मौका पुनः टल गया, पर अभी कुछ

दिन और मुझे यहां से हिलाया न जाए, ऐसी डाक्टर ने सख्त ताकीद कर दी है। यदि हो सके तो एक बार बम्बई आ जाओ न! क्या यह सम्भव हो सकेगा ?..."

मेरे आनन्द का पारावार न रहा। मुझे देवी का पत्र आया और उसने मुझे बम्बई बुलाया है! किसे सुनाऊं यह खुशखबरी ? वासन्ती भी यहां नहीं है।

मुझे ऐसा हो गया कि कब एक बार शाम होती है...पर मालती मिलेगी ही इसका भी क्या भरोसा ? दूसरे मालती को यह पत्र दिखाने में क्या अर्थ ? अंतिम भेंट के समय वासन्ती ने जो उद्गार निकाले थे उनका सम्बन्ध मैं देखने लगा। जो मुझे शक हुआ था, क्या वही हुआ है ?

वासंती के भाग जाने का यदि कभी मुझे बुरा लगा होगा तो वह इसी समय। आज वह होती तो यह पत्र मैं उसे दिखाता और उसके उद्गारों का मतलब उससे स्पष्ट शब्दों में पूछ लेता।

देवी लिखती है, 'क्या यह सम्भव हो सकेगा ?'

अजी असंभव क्या है ? जब देवी ने ही यह इच्छा प्रदर्शित की है कि मैं बम्बई जाकर उससे मिलूं तो असंभव होने का यहां प्रश्न ही कहां रहा ? 'सच्चा हिन्दू' का अंक न निकल पाएगा, तो न निकले। अंक जाए भाड़ में! मुझे उसकी क्या परवाह ? मुझे तो देवी ने बुलाया है!

मैं आनन्द से बिलकुल बौखला उठा था। पर पुनः एक प्रश्न-चिह्न मेरे सामने उभर उठा—काकाजी की पकड़ से छुटकारा कैसे मिले ? कौन-सा बहाना बनाया जाए ? बिला वजह वे मुझे बंबई जाने की इजाज़त हरगिज़ नहीं देंगे।

मैंने प्रेस-मैन को बुलाया। उसे थोड़ी-सी रिश्वत देने की कोशिश की और कहा कि छापाखाने की मशीन में कहीं थोड़ी-सी गड़बड़ी कर दे जिससे मशीन बिगड़ जाए और हमारा काम ही रुक जाए।

वह आश्चर्यचकित हो गया। मैंने कहा, "बाबा, मुझे बंबई जाना बहुत ज़रूरी है। मेरे काका कैसे हैं सो तुम जानते ही हो। बिला वजह वे मुझे

बम्बई जाने की अनुमति नहीं देंगे। इसलिए यदि मशीन का कोई पार्ट तुम तोड़ दो तो उसे सुधरवाने के लिए मुझे बंबई जाने की इजाज़त फौरन मिल जाएगी। पार्ट तोड़कर, काका से यह भी कह देना कि बिना बंबई भेजे वह ठीक न हो सकेगा।"

वह हंस पड़ा। पर उसने मेरी बात मान ली।

मेरा उपाय चल गया। उसी दिन शाम को मेल से मशीन का बिगड़ा हुआ पुर्ज़ा लेकर मैं बंबई चल दिया।

पहले मैंने सोचा था कि जाकर माधवाश्रम में ही ठहरूं। पर बाद में यह विचार बदल दिया। सोचा, अपने एंपायर होटल में ठहरना ही ठीक होगा। यदि माधवाश्रम में रहा तो शेषगिरराव मुझपर बड़ी कड़ी निगरानी रखेंगे। मान लो देवी को साथ लेकर कहीं बाहर घूमने का मन होता, तो माधवाश्रम में रहकर यह बात असंभव थी। एंपायर होटल में रहा तो टेलीफोन से सब कुछ हो जाएगा। बम्बई में यह टेलीफोन की सहूलियत बड़ी अच्छी है। हमारा बेलगांव अभी तक इस सुविधा से वंचित है। बेलगांव में टेलीफोन की बंबई जैसी यदि सुविधा होती तो वासन्ती के लिए भी कितनी सहूलियत हो जाती!

वासंती का नाम मन में आते ही मुझे गंगाधरराव का स्मरण हो आया।

बंबई जाने पर उसका भी क्या हुआ इसका भी पता चलेगा। कदाचित् उससे भेंट भी हो जाए। देवी से बिना मिले वासंती कभी न रहेगी।

मुझे ऐसा लग रहा था सही, पर शेषगिरराव भी वहां हैं इसे मैं उस समय के लिए भूल गया था। देवी तो बिस्तर पर पड़ी थी। यदि वासंती उसे संदेसा भेजकर भी बुलाती, फिर भी यह संभव न था। शेषगिरराव बीच में एक बड़ी बाधा थे न?

सफर का फासला मुझसे बरदाश्त नहीं हो रहा था। बंबई पहुंचने के लिए मैं बड़ा उत्सुक हो उठा था। कब माधवाश्रम जाऊं ऐसा मुझे बहुत-बहुत लग रहा था। प्राण बिलकुल आंखों में सिमट आए थे।

आखिर बंबई का वोरीबन्दर स्टेशन आया। टैक्सी करके एंपायर होटल पहुंचा और सबसे पहला काम—माधवाश्रम को फोन—किया !

फोन पर शेषगिरराव आए थे।

उन्होंने भोजन के लिए वहीं आने का आग्रह किया। उस समय जी में आया था कि निमंत्रण स्वीकार कर लूं और रहने को भी वहां चला जाऊं। पर मैंने ज़बरदस्ती अपने मन को रोका और जवाब दिया कि भोजन करके आ रहा हूं।

मुझे भोजन कहां सूझ रहा था ! किसी तरह दो कौर गले के नीचे उतार जो मैं नीचे उतरा सो एक टैक्सी कर सीधा माधवाश्रम पहुंचा।

देखा तो देवी बिस्तर पर पड़ी थी। पर उसके चेहरे की ओर देखते ही मुझे संतोष हुआ। चेहरा तरोताज़ा दिख रहा था। ऐसा नहीं लग रहा था कि वह किसी बीमार का चेहरा है।

शेषगिरराव बोले, "इसे बंबई ले आए सो अच्छा ही हुआ। वहां के डाक्टरों ने तो एकदम ऑपरेशन की ही बात कह दी थी। पर यहां के डाक्टरों ने ठीक से जांच करके समय पर ही ऐसा बढ़िया इलाज किया कि अब ऑपरेशन की कोई ज़रूरत ही नहीं रही। जो डाक्टर इसका इलाज कर रहा है वह सचमुच ही बड़ा सज्जन है। बड़ा होशियार है। उसके हाथ में भगवान ने यश दिया है···"

डाक्टर की तारीफ सुनते-सुनते मैं हैरान हो उठा।

मेरे दिल में यही आ रहा था कि देवी के साथ घूमना कैसे मिलेगा ? उससे वासंती की खबर कैसे मिलेगी ? स्वयं उसे वासंती के बारे में कुछ मालूम है या नहीं ? वासंती उससे मिली या नहीं ?

इसी समय कोई एक महाशय आए और शेषगिरराव उसके साथ चल दिए। मुझे लगा जैसे एक संकट से मुक्त हो गया। मैंने संतोष की सांस ली।

मैंने देवी से पहला प्रश्न यही पूछा कि उसे वासंती का कोई समाचार मिला या नहीं ?

देवी बोली, "धीरे बोलिए। इधर अभी किसीको कोई पता नहीं।

शायद काका बाहर होंगे। वासंती यहां आई थी। मुझसे मिली थी। कल ही आर्यसमाज में उसका विवाह...”

“कल ही ?” मैं आश्चर्य से चकित होकर बोला, “कल तो कोई मुहूर्त नहीं था। मुहूर्त तो आगामी नवमी को था। फिर कल कैसे विवाह हुआ ?”

“आर्यसमाज में मुहूर्त नहीं देखा जाता। सिर्फ वैदिक विधियां हुआ करती हैं।”

“ऐसा ?” मैंने कहा, “यह मैं नहीं जानता था। यह सहूलियत बड़ी अच्छी है।”

“क्यों भला ?” देवी बोली, “इस सहूलियत की कैसे याद हो आई तुम्हें ? कहीं किसीसे विवाह निश्चित कर बैठे हो क्या ?”

“निश्चित तो अभी नहीं किया है।” मैंने दांतों में जीभ डालकर कहा, “पर शीघ्र ही निश्चित कर लेनेवाला हूं। क्या तुम्हें यह नहीं लगता कि हमें भी वासंती से गुरुमंत्र ले लेना चाहिए ?”

देवी गंभीर हो गई। उसकी आंख से आंख मिलाने की मैंने कोशिश की, पर उसकी निगाह दूसरी ही ओर थी।

“क्यों, बोलतीं नहीं ?” मैंने बौखलाकर कहा। फिर भी वह चुप थी।

“देवी का कौल नहीं मिलेगा क्या मुझे ?” मैंने बिलकुल धीरे से कहा।

बदन पर ढकी चद्दर दूर हटाकर देवी उठकर बैठ गई। उसने मेरी ओर एक क्षण के लिए ही निरखकर देखा। फिर बोली, “क्या तुम सोचते हो कि मैं सचमुच बीमार हूं ?”

“तो क्या यह तुम्हारा ढोंग है ?” मैंने पूछा।

“मान लो मैंने ढोंग ही किया है, तो इस विषय में तुम्हें क्या लगेगा ? क्या तुम्हारा यह ख्याल होगा कि मैं एक मूर्ख लड़की हूं ?”

“यह मुझसे क्या पूछ रही हो देवी ? बिना कोई जबरदस्त कारण हुए तुम ऐसा ढोंग करोगी यह मैं कैसे सोचूंगा भला ?”

“मुझपर तुम्हारा इतना विश्वास है क्या ? तो सुनो—यह ढोंग है। मुझे

मैं भी हंसा। वह जिस तरह हंसा करती थी उसी तरह हंसने का मैंने प्रयत्न किया। पर वह मुझसे न सध पाया।

२०

जहां मैंने ही झुठाई की थी वहां यदि देवी ने ढोंग किया हो तो मैं उसे दोष कैसे दूं ! किस बहाने में बम्बई आया, इसका हाल जब मैंने देवी से कहा तो वह हंसते-हंसते दोहरी हो गई।

हम खूब लम्बी-चौड़ी बातें कर रहे थे। मुझे अपने पर ही आश्चर्य हुआ। क्या यह वातावरण का प्रभाव है ? जब बेलगांव में थे तो बातें करने में कितना संकोच होता था ! इधर-उधर देखना पड़ता था, कितने संभाल-कर बातें करनी पड़ती थीं ! परन्तु आज हमारी वातों की कोई मर्यादा ही नहीं रही थी। मैं क्या कह रहा था, यह स्वयं मैं भी नहीं समझ पा रहा था। परन्तु देवी को अलबत्ता मेरी किसी बात का बुरा नहीं लग रहा था, यह मुझे साफ दिख रहा था।

बहुत-सी बातें वासन्ती के बारे में ही हो रही थीं। उन दोनों का यह कार्यक्रम पहले से ही निश्चित हो चुका था, यह देवी को मालूम था।

कैसी चालाक है यह वासन्ती ! वह मुझसे साफ-साफ झूठ बोली। यदि प्रेमकाण्ड ऐसे ही होते हैं तो क्या यही समझा जाए कि बिना बोले प्रेम नहीं होता ?

शेषगिरराव कमरे में कब आ जाएंगे इसका कोई ठिकाना नहीं था और मुझे भी, जो बहाना मैंने किया था, उसे पूरा करना था। इसलिए देवी से मैंने विदा ली और होटल आया। थोड़ी देर वहां रुककर और पूरा कमरा अपने लिए रिज़र्व कराकर मैं मशीन के टटे हिस्से को लेकर छापेखाने गया।

मुझे देख प्रकाशक महोदय को बड़ा आनन्द हुआ। वे बोले, "एक डबल डेमी मशीन बिकाऊ है। बहुत ही कम कीमत में दिला दूंगा। मैं एक नई मशीन ले आया हूं। उसे जमाने के लिए जगह खाली करनी है। जो बेच रहा हूं वह मशीन भी बिलकुल नई ही है। जितना सम्भव हो सकेगा उतने कम मूल्य में सौदा तय करा दूंगा। बोलिए क्या इरादा है?"

"अजी, जो मशीन फिलहाल मेरे पास है, उसीके बेचने की फिक्र में हूं मैं।" मैंने कहा।

"मतलब?" आश्चर्यचकित होकर प्रकाशक बोला, "इतनी जल्दी?"

"हमारा अखबार ठीक से नहीं चल रहा है। बहुत घाटा है। केवल जॉब-वर्क के भरोसे बेलगांव जैसे छोटे शहर में छापाखाना नहीं चल सकता। वहां उतना काम ही नहीं मिलता। जो छापेखाने शुरू से ही वहां हैं वे भी रो रहे हैं। इसलिए आपके पास से हम जो मशीन खरीदकर ले गए थे उसे लाकर आपको लौटा देता हूं।"

मैं इस प्रकार बातें कर रहा था तभी वह ऐनकधारी स्त्री वहां आई। उसे देखते ही मैंने उससे कहा, "शायद अब तीसरा उपन्यास लेकर आई हैं आप?"

वह हंस पड़ी—बिलकुल उसी तरह हंसी—उसी तरह यानी देवी की तरह नहीं, बल्कि भौंहें उठाकर, आंखें मटकाकर, ऐनक की कांच के भीतर से तिरछी निगाह फेंकती हुई और गरदन को झटके देती हुई हंसी।

पुनः मेरा मन असमंजस में पड़ गया। देवी यदि इसी तरह दिखे··· इसी तरह हंसे···

वह बोली, "मुझे नहीं लगता कि इतनी जल्दी तीसरा उपन्यास आ जाएगा, क्योंकि मेरा भाई इस समय अस्पताल में बीमार पड़ा है।"

"क्या हमारी आलोचना से उसके हृदय को धक्का लगा है?" मैंने चोट करते हुए कहा।

"यदि उसका दिल इतना कच्चा होता कि आलोचना से वह डर जाए तो दूसरा उपन्यास वह पूरा लिख ही नहीं सकता था। मनुष्य का दिल

कच्चा हुए बिना वह पुराणपंथी नहीं होता…"

उसकी यह चोट मेरे मर्म पर लगी। मेरे सामने प्रश्न खड़ा हुआ— 'सचमुच ही क्या मैं कच्चे दिल का हूं ?'

"आजकल आपके पत्र की नीति क्यों बदल गई है ?" उसने पूछा, "हिन्दू की विवाह-पद्धति पर आपके 'सच्चा हिन्दू' में बड़ी फटकार आने लगी है। यह कैसे हुआ ? लगता है सम्पादकजी किसीके प्रेम-जाल में फंस गए हैं ?"

"उस पत्र का सम्पादक मैं ही हूं।" मैंने कहा, "और मैं अभी तक किसीके प्रेम-जाल में नहीं फंसा, और न कभी फंसूंगा ही।"

"सच ?" वह तिरछी नज़र से मेरी ओर देखती हुई बोली, "मुझे यह सच नहीं लगता। आपका चेहरा ही मुझे सच्चा इतिहास बता रहा है। पहले मैंने आपको जब देखा था उस समय की आपकी मुद्रा और इस समय की आपकी मुद्रा दोनों में बहुत फर्क है। पोशाक में तो फर्क हुआ ही है। अच्छी चिकनी दाढ़ी बनाकर आपने चेहरे पर काफी स्नो भी पोता है और ब्रिलियंटाइन लगाकर बालों को भी खूब संवारकर चिपकाया है। ये नये बूट, ये इस्तरी के कपड़े…यह सब परिवर्तन जब नज़र आता है तो उस मनुष्य पर शक होने लगता है। और पहले की वह आपकी बुद्धू-मुद्रा तो अब बिलकुल ही गायब है…"

कैसी वाहियात छोकरी है, मुझे लगा। खुल्लमखुल्ला मुझे बुद्धू कहने लगी।

"मैं एडीटर जो हो गया हूं अब ! इसलिए ठाट से रहना ही चाहिए मुझे !" मैं मूंछों पर हाथ फेरता हुआ बोला।

"ये मूंछें भी सफाचट कर लीजिए आप !" वह स्त्री बोली, "आजकल की लड़कियों को ये मूंछें पसन्द नहीं होतीं।"

"मेरी मूंछों से आजकल की लड़कियों का क्या संबंध ? मैं कौन आप जैसा नवमतवादी हूं ! मेरा विवाह पुराणपंथी-पद्धति से होगा…"

"अभी आपका विवाह होना है क्या ?" वह फिर तिरछी नज़र से मेरी

ग्रोर देखती हुई बोली, "होनेवाला था कहिए न ? ग्रापका विवाह जिससे होना था वह लड़की किसी दूसरे के साथ भाग गई ग्रौर उसने ग्रपने उस प्रेमी से गुप्त रीति से विवाह कर लिया। यह सच है न ?"

मैं ग्राश्चर्यचकित हो गया। पूछा, "यह ग्रापको कहां से मालूम हुग्रा ?"

"बंबई में यह बात सुप्रसिद्ध है। फिर मुझे क्यों नहीं मालूम होगी ? सभी ग्रखबारों में इसका ढिंढोरा पिट चुका है।"

"पर उस लड़की का विवाह मुझसे निश्चित हुग्रा था यह ग्रखबारों में कहां लिखा था ?" मैंने कहा।

"मेरा खयाल है, लिखा था···" वह मेज़ पर हाथ पटककर बोली, "नहीं तो मुझे कैसे मालूम हुग्रा ? ग्राया था न ऐसा एक समाचार ग्रखबारों में ? मुझे लगता है मैंने उसे 'ज्ञानप्रकाश' में देखा था। ऐसे पते लगाने में ज्ञानप्रकाश के संवाददाता बड़े कुशल होते हैं। उन्हें कहां से यह पते लग जाते हैं, मैं समझ ही नहीं पाती।"

मुझे विश्वास था कि किसी भी ग्रखबार में यह समाचार नहीं छपा था। मैंने उससे जब साफ-साफ यह कहा तो वह बोली, "ग्रखबार में यदि यह समाचार नहीं ग्राया तो मुझे इसका पता कैसे चला ? मैं कोई तुम्हारे बेलगांव की तो हूं नहीं।"

"यही तो मुझे शक हो रहा है," मैंने कहा, "कि ग्राप बेलगांव की ही हैं। ग्रापका नाम ? ग्रथवा कुलनाम ? यदि वह ग्रापके मायके का हो तो वही बताइए···पर ऐसा नाम बताइए जिसे मैं पहचान सकूं।"

बेचारा प्रकाशक चुपचाप बैठा हमारी बातें सुन रहा था। ग्रभी तक उसने हमारी बातों में दखल नहीं दिया था। परंतु जब हमारा वार्तालाप यहां तक पहुंचा तब उससे चुप नहीं बैठा गया। वह बोला, "क्यों इन महाशय को यूं ग्रसमंजस में रख रही हैं ? बता दीजिए इन्हें ग्रपना नाम। यदि ग्राप इन्हें विश्वासपूर्वक नाम बता देंगी तो ये विश्वासघात नहीं करेंगे।"

"मुझे किसीपर विश्वास नहीं।" वह बोली, "क्या आपको विश्वास है कि जो नाम मैंने आपको बताया है वह मेरा सच्चा नाम है ? और मेरे भाई का जो नाम आपने उसकी पुस्तकों पर छापा है, कम से कम वह भी सच है, क्या यह आप दावे के साथ कह सकते हैं ?"

"अच्छा, क्या ऐसी बात है ?..." प्रकाशक बोला, "अगर यह बात मुझे कम से कम पहले ही मालूम हो जाती तो..."

"पहले मालूम हो जाती तो आप क्या करते ?" वह बोली।

प्रकाशक महोदय उसकी ओर देखकर बोले, "पुस्तक के बारे में हमारे जो अनुबंध आदि हुए हैं वे उसी नाम से हैं। यह नाम यदि बनावटी है तो क्या आपको इसकी कल्पना है कि अदालत में आपकी क्या स्थिति होगी ?"

"इसीलिए मैं कहती हूं कि वह नाम सच है या झूठ है, यह आप नहीं जानते।'

"मतलब ? क्या वही नाम सच है ?" प्रकाशक ने पुनः पूछा।

"यह मैं नहीं बताना चाहती।" वह गंभीरता से बोली, "अगर आप चाहें तो एक बार अदालत में चलकर देख लीजिए जिससे आप ही आप आपको विश्वास हो जाएगा।"

प्रकाशक महाशय अभी तक बड़े प्रसन्न थे कि लेखक को फंसाने का उन्हें अच्छा मौका मिला, पर उस स्त्री के उपर्युक्त उद्गारों ने उनका सारा जोश ठंडा कर दिया। चेहरा उदास हो गया उनका।

"फिर बताइए न अपना नाम मुझे !" मैंने उत्सुकता से कहा।

"यदि कभी नाम बताने का मौका आ जाएगा तो सबसे पहले मैं आपको ही बताऊंगी..." इतना कहकर वह एक बार प्रकाशक की ओर देखकर पुनः मेरी ओर देखती हुई बोली, "मेरा ख्याल है आपका काम हो चुका है। अब मुझे इनसे बातें करनी हैं। व्यवहार की बातें किसी पराये के सामने करना उचित नहीं होता यह शायद आप भी स्वीकार करेंगे।"

मैं उठा और कुछ न बोल दोनों को नमस्ते करके चल दिया।

उस दिन देवी ने शाम को एंपायर होटल के मेरे कमरे में आने का

वादा किया था। डाक्टर ने देवी को ताकीद की थी कि रोज़ शाम को वह गाड़ी में बैठकर घूमने जाया करे। शेषगिरराव अक्सर उसके साथ रहा करते थे। मगर कभी-कभी ऐसा भी हो जाता था कि शेषगिरराव किसी दूसरे काम में उलझ जाते और देवी अकेली ही घूमने चल देती थी। बंबई आने के बाद से, देवी को कहीं भी अकेली भेजने का उनका अपना दुराग्रह अब विशेष नहीं रहा था।

जिस दिन देवी ने मेरे कमरे में आने का वादा किया था, उस दिन बाज़ार जाकर मैं बहुत-सी चीज़ें खरीद लाया था। खरीद के पैकेट को बगल में दबाए मैंने अपने कमरे में प्रवेश किया ही था कि इसी समय देवी भी वहां आ पहुंची।

मेरे हाथ का पैकेट देख बोली, "क्या खरीद लाए ?"

"यही तो मैं आज तुम्हें बतानेवाला हूं।" मैंने आंखें मिचकाते हुए कहा, "यह जो कुछ भी मैं लाया हूं वह तुम्हारे लिए ही है।"

"ऐसा ?" देवी बड़े लाड़ से बोली, "क्या लाए हो मेरे लिए ?"

मैंने वह पैकेट खोला। उसमें जार्जट की एक महीन साड़ी थी। सोने की एक पतली चैन थी। दो इयररिंग्ज़ थे और ऐनक की एक खाली फ्रेम थी।

उन सारी चीज़ों को देख देवी आश्चर्यचकित हो गई।

बोली, "यह सब किसलिए ?"

"तुम्हारे लिए। मैं बाहर जाता हूं। तुम दरवाजा बन्द कर लो और यह सारी पोशाक पहन लो। इस पोशाक में मैं एक बार तुम्हें देखना चाहता हूं।"

"यह क्या पागलपन है जी ?" देवी बोली।

"मैं पागल हो गया हूं, चाहो तो तुम मुझे पागलखाने भेज सकती हो। पर पहले यह सारी पोशाक पहनकर मेरे सामने खड़ी हो जाओ और मुझे इस पोशाक में तुम्हें देख लेने दो। इस पोशाक में तुम कैसी दिखती हो यह देखे बिना मैं चैन नहीं लूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा ही कर रखी है मैंने।" ऐसा

कहकर मैं कमरे से बाहर चल दिया और दरवाज़ा भेड़ दिया। देवी ने अंदर से बोल्ट लगाया जिसकी आवाज़ मेरे कानों में पड़ी।

मैं पहली बार ही आज एक सिगरेट का पैकेट लेकर आया था। सिगरेट कैसे पी जाती है यह भी मैं नहीं जानता था।

मैंने इधर-उधर निगाह फेंकी और यह देखा कि मेरी ओर कोई नहीं देख रहा है, मैंने पैकेट से एक सिगरेट बाहर निकाली और उसे जलाकर कश खींचने लगा। पहले ही कश के साथ मुझे ज़ोर की खांसी आई। पर मैं मन में पक्का निश्चय कर चुका था कि कुछ भी हो, पूरी सिगरेट पीकर ही रहूंगा। जितना संभव था उतना धुआं भीतर न निगलने की कोशिश करता हुआ मैं कश पर कश खींचने लगा। गैलरी से गुज़रनेवाला एक मनुष्य सिगरेट पीते समय मुझे हो रहे कष्टों को देखकर हंसता हुआ आगे बढ़ गया। आम तौर पर ऐसा कोई मनुष्य मुझपर हंसा होता तो मैं शर्म से अधमरा हो जाता—परन्तु मैं आज बिलकुल मस्त था, मुझे किसीकी भी कोई परवाह नहीं थी।

एक कठिन परीक्षा मानकर मैंने वह सिगरेट पूरी पी डाली। इसी समय कमरे का दरवाज़ा खुला और मैं भीतर गया।

देवी ने मेरी आज्ञा का पालन कर लिया था। आंखें भरकर मैंने उसे नखशिखान्त देखा और कहा, "एक कमी रह गई। तुम्हारा यह बेलगांवी 'पोलका' कुछ ठीक नहीं दिखता। यदि तुम्हारा कोई ब्लाउज़ मुझे पहले मिल जाता तो उसीके नाप का एक अच्छा फैशनेबल ब्लाउज़ भी ले आता।"

देवी हंसी, तब कहीं मेरे ध्यान में आया। "देवी, देवी," मैंने कहा, "यह ऐनक नहीं लगाई तुमने ?"

ऐनक उठाकर देवी ने नाक पर रखी। मैं उसकी ओर एकटक बड़े ध्यान से देख रहा था। समानता तो विलक्षण थी इसमें शक नहीं।

मैंने कहा, "अब ज़रा हंसो तो।"

"बिला वजह हंसी कैसे आएगी ?"

"हां, यह भी सच है। हंसने के लिए कोई कारण होना चाहिए।" मैं

अपने-आप ही बुदबुदाया, "कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। कारण के बिना यूंही कौन हंसेगा ? कम से कम कुछ खुशी ही होनी चाहिए। ऐसी पोशाक पहनकर तुम्हें खुशी नहीं होगी। पुराणपंथी कुल में तुम बढ़ी हो और ऊपर से एक पुराणपंथी विचारधारा के समाचारपत्र की सम्पादिका हो…"

"संपादिका ?" देवी बनावटी क्रोध का भाव लाकर बोली, "कौन है संपादिका ? मैं तो तुम्हारे दफ्तर में सिर्फ मुंशीगिरी करती हूं…"

"तुम्हें तो झूठ बोलने की आदत ही पड़ गई दिखती है। मुंशीगिरी कौन कर रहा था ? तुम या मैं ? दरअसल मुंशी मैं था। तुम लेख लिखती थीं और उन्हींकी नकल कर-करके मैं प्रेस में देता था। किसीने यदि मेरे दफ्तर में मुंशीगिरी की है तो वह मैंने ही की है !"

"यह खूब संपादन हो रहा था तुम्हारा !" देवी बोली। पर वह हंस रही थी। क्या उपाय करूं यह मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था। हमेशा काका के गंभीरता के वातावरण में मैं रहा था। सारी ज़िन्दगी उन जैसे मनहूस व्यक्ति की सोहबत में गुज़ारी थी। इसलिए विनोद-बुद्धि मुझमें थी ही नहीं। विनोद करना मैं जानता ही नहीं था। क्या विनोद करूं जिससे देवी हंस पड़े यह मुझे सूझ ही नहीं पा रहा था। मेरे संपादकीय लेख हमेशा ही जो बड़े गंभीर रहा करते थे, उसका भी कारण यही था।

मैं अंत में चिढ़ उठा और बोला, "अब सीधी तरह से तुम हंसोगी या नहीं, देवी…"

"अगर न हंसी तो…" देवी गंभीरता का अभिनय करती हुई बोली, "तुम क्या करोगे ?"

"मैं बड़े ज़ोर से चिल्ला पड़ूंगा !" मैंने जान की बाज़ी लगाकर कहा और देवी एकदम हंस पड़ी।

क्या देवी ही हंसी थी ?

उसी तरह भौंहें ऊपर उठीं। उसी तरह आंखें तिरछी हुईं। गरदन को वही झटके लगे…क्या यह देवी ही है या कि वह स्त्री है जो प्रकाशक

के ग्राफिस में मैं हमेशा देखता था···ओफ ! ···

मैंने कहा, "देवी, शैतान कहीं की ! बड़ी शरीर हो तुम ! इस तरह धोखा दे रही थीं मुझे ? मुझे ही नहीं, सारे महाराष्ट्र को···"

मैं उसका हाथ पकड़ने को आगे बढ़ा।

वह पीछे मुड़कर बोली, "कम से कम दरवाज़ा तो बन्द कर लो···" ऐसा कहकर वह स्वयं आगे बढ़ी और उसने दरवाज़े को भीतर से बोल्ट कर लिया।

२९

वासंती का पता देवी ने बता दिया था। उसी अनुरोध से उसकी खोज में मैं निकल पड़ा और दोनों मुझे मिल गए। अखबारों में उनके बारे में जो गन्दे मज़मून छपे थे उनका उनके मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। वासंती के पिता को मेरे काका ने किस तरह फटकारा, इसका सारा हाल मैंने उन्हें बताया। उसे सुनकर वासंती को बुरा लगने के बजाय आनन्द ही हुआ।

वह बोली, "अच्छा सीधा किया मेरे पिताजी को ! मैंने बिलकुल दिल खोलकर साफ-साफ शब्दों में उनसे सब बातें कह दी थीं। मैं कोई आपकी तरह चुप नहीं बैठी रही थी। सारी लाज-लज्जा को धाबे पर रख सीधा-सीधा कह दिया था। उसी समय यदि उनकी आंखें खुल जातीं तो सारे शहर में उनकी ऐसी बेइज़्ज़ती तो न होती। यह कोई मित्र-विवाह नहीं था या कि कोई बेजा बात नहीं थी। दोनों एक ही जाति के हैं। इस विवाह में किसी प्रकार की कोई अड़चन नहीं थी। परन्तु अपनी ही ज़िद चलाना कोई हमारे पिताजी से सीखे। क्या कमी दिखाई दी थी उन्हें मेरे 'इन' में? किस दृष्टि से आपकी अपेक्षा कम हैं ये ? वैसे आप नाराज़ न हों, पर मैं ऐसा पूछती हूं—आप शायद अमीर होंगे—अगर आज नहीं, पर कल

काका की मृत्यु के बाद उन्होंने वसीयत यदि आपके नाम कर दी तो आप अमीर हो जाएंगे; लेकिन मैं यह कहती हूं कि यदि आज 'इनसे' आपकी तुलना की जाए तो…"

"तो निश्चित ही मैं इनसे कम दर्जे का सिद्ध होऊंगा !" मैंने बिलकुल स्पष्ट कह दिया ।

"ये बी० ए० हैं। अब एम० ए० भी हो जाएंगे। शायद लॉ भी पास कर लेंगे और वकील बनकर खूब नाम कमाएंगे, रुपया भी कमाएंगे। कम से कम आपको तो इनकी श्रेष्ठता जंच गई यह अच्छा हुआ।" वासंती बोली ।

"मुझे जंच तो गई इसमें शक नहीं !" मैंने कहा, "पर इनसे तुमने कभी पूछा था कि तुम्हें लेकर भाग जाने का उपदेश इन्हें किसने दिया था? उससे पहले क्या हुई थी इन्हें हिम्मत तुम्हें लेकर भाग जाने की ? क्या करूं, ऐसा कहते हुए सिर धुनते बैठे थे ये ! ज़रा पूछो तो इनसे !"

"सच है, सच है।" गंगाधरराव बोला, "तुम्हारी उन बातों के कारण ही मेरी आंखों के सामने प्रकाश पड़ा। बात मेरे भी मन में आ रही थी। पर मैं किसीका समर्थन चाहता था। कितने दिनों तक वहां दुविधा में सड़ता पड़ा रहता ? ऐसे मां-बापों से क्या कहा जाए जो अपने लड़कों या लड़कियों को उच्च शिक्षा तो देते हैं, उन्हें गृहस्थी सजाने के लिए समर्थ भी बना देते हैं, मगर उनके विवाह करते समय ऐसा सोचते हैं जैसे वे लड़के या लड़कियां दस-बारह वर्ष के ही हैं। उनसे इस विषय में पूछते तक नहीं !"

उन दोनों का आनन्द देखकर मुझे भी आनन्द हुआ।

उनका आनन्द देखकर आनन्द होने योग्य परिस्थिति में मैं था, इसीलिए मुझे आनन्द हुआ। परन्तु अपने आनन्द का रहस्य मैंने उनसे नहीं कहा।

अभी भी एक रहस्य का उद्घाटन होने को था। 'कृष्णाजी बलवंत' कौन है यह देवी ने मुझे अभी तक नहीं बताया था। जब उसने मुझसे कहा कि यह बात दूसरे की है और उसके रहस्य को मैं प्रकट करना नहीं चाहती,

उस समय मुझे थोड़ा बुरा ज़रूर लगा। मेरे प्रति देवी के हृदय में जब इतना स्नेह जाग उठा है तब उस व्यक्ति के नाम को जानने की मेरी जिज्ञासा और भी अधिक बेकाबू हो उठी, जिसका रहस्य देवी इतने विश्वास के साथ छिपाकर रख रही थी।

हम बातें कर रहे थे कि इसी समय देवी भी वहां आ पहुंची।

सबके लिए चाय मंगाई गई। साथ में केक भी लाए गए। तीनों केक खाने लगे।

मुझे उन केक को मुंह में डालने का साहस नहीं हो रहा था। दिखने में वे बड़े अजीब-से दिख रहे थे। उनके भीतर क्या-क्या भरा था, भगवान जाने! मैंने गंगाधरराव की ओर देखकर कहा, "इन केकों में कोई निषिद्ध पदार्थ तो नहीं होते न?"

"वैसे कोई अधिक निषिद्ध चीज़ इसमें नहीं रहती।" गंगाधरराव बोला, "हो सकता है अंडे होते हों, या शायद न भी होते हों। केक कैसे बनाए जाते हैं इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं। आइसक्रीम तो आपने खाई है न? कहते हैं उसमें भी अंडे होते हैं।"

"अभी तक बम्बई में खाई जानेवाली इन चीज़ों में से मैंने कुछ भी नहीं खाया है।" मैंने साफ-साफ कहा। और यह सच भी था। जब-जब भी मैं बम्बई आता था, सिवा अपने होटल के और किसी भी दुकान में जाकर कुछ न खाता था। होटल में शुद्ध शाकाहारी भोजन की व्यवस्था रहती थी। दुकान में जाकर चाय पीना अथवा वहां की नाश्ते की चीज़ें खाना एक तो मुझे जंचता न था, दूसरे मैं यह पसन्द भी नहीं करता था।

"यह सब पुराणपंथी बातें अब छोड़ देनी चाहिए तुम्हें।" देवी बोली, "और भोजन के समय जो सोला पहनते हो उसे भी छुट्टी दे दो अब।"

"मतलब?" वासंती बोली, "भोजन करते समय क्या ये सोला पहनते हैं? मेरे पिताजी भी अपने को पुराणपंथी कहते हैं, पर वे भोजन के वक्त सिर्फ धुला हुआ वस्त्र पहनते हैं, सोला नहीं।"

"उन्होंने सुधार की पहली सीढ़ी पर कदम रखा है, सोला के बाद धुला

वस्त्र आता है।" देवी बोली, "धुले हुए वस्त्र के बाद का सुधार है किसी भी वस्त्र को पहनकर भोजन करना और अब यह सुधार लोगों में हो गया है। कोट-पेंट पहने हुए तो भोजन करने ही लगे हैं, पर अब तो जूते भी नहीं निकालते बहुत-से नवमतवादी।"

वे लोग पुराणपंथियों की हंसी उड़ाते हुए बहुत देर तक बातें करते रहे। मैं सिर्फ सुन रहा था। अब उनकी बातों का मुझपर प्रभाव पड़ने लगा था। मेरे मत बदलने लगे थे। जब बम्बई की दृष्टि से मैं अपनी ओर देखने लगा तो अपनी पुराणपंथी वृत्ति मुझे दहकानी लगने लगी। यह कहनेवाली स्त्री कि 'बेलगांव के लोग गंवार होते हैं', बेलगांव की ही थी यह मुझे अब मालूम हो गया था। उन उद्‌गारों पर मुझे पहले जो क्रोध आया था वह अब विलुप्त हो गया था।

अपनी पोशाक में मैंने कुछ सुधार कर लिया था। अब आचार में भी परिवर्तन कर लेने का निश्चय कर लिया। कोई कुछ भी कहता रहे, फोर्ट जाऊंगा और किसी अच्छे दर्ज़ी से अप-टू-डेट सूट सिलवाऊंगा, ऐसी मैंने मन ही मन प्रतिज्ञा की।

गंगाधरराव से मैंने कहा, "यह केक तो अब खत्म करता ही हूं। पर एक बार तुम मुझे यहां के किसी ईरानी होटल में ले चलो। मुझे अपने पुराणपंथीपन का प्रायश्चित्त ले लेना चाहिए। जाते समय दो-चार डज़न केक साथ लेता जाऊंगा और वहां आफिस की मेज़ पर रखकर खुल्लम-खुल्ला उन्हें खाऊंगा। देखने दो काका को। अगर मुझपर नाराज़ होकर वे मुझे घर से भी निकाल दें, तब भी मुझे कोई परवाह नहीं उनकी!"

"अजी, इतनी निर्भयता कहां से लाए श्रीनिवासजी?" गंगाधरराव बोला।

मैंने देवी की ओर देखा। देवी ने मेरी ओर देखा और हम दोनों ने ही वासंती की ओर देखा। उस नयनों की भाषा को तीनों ही समझ गए। पर बेचारा गंगाधरराव अलबत्ता कुछ भी न समझ पाया।

हम सिर्फ हंस दिए। गंगाधरराव बोला, "हम सब लोग यहां इस

तरह मज़े में हंस रहे हैं। पर इसकी आपके काका को, वासंती के पिता को और देवी के चाचाजी को कोई कल्पना है क्या ? मान लो, वे तीनों यहां आ जाएं और उन्होंने हमें इस तरह बैठे मज़ा उड़ाते देख लिया, तो क्या सोचेंगे वे ?"

मूर्च्छित होकर गिर पड़ेंगे, समझे ?···मूर्च्छित हो जाएंगे ! "वासंती बोली, "कुहराम मचा देंगे। सारा होटल सिर पर उठा लेंगे। अब हमें बेलगांव को भूल जाना चाहिए। बेलगांव में पुनः कदम रखना कम से कम हम दोनों के लिए तो अब संभव नहीं। जब सारी पुरानी बातें भुला दी जाएंगी तभी बेलगांव की लाल मिट्टी हम देख सकेंगे। तब तक बम्बई की इन सूखी आस्फाल्ट सड़कों पर ही हमें घूमना होगा। जो प्रसंग आ पड़ा है उसका डटकर मुकाबला करना होगा।" देवी की ओर मुड़कर वह बोली, "बड़ी मुश्किल पड़ गई थी। परन्तु यहां के एक मित्र ने नौकरी का इंतज़ाम कर दिया है। हर महीने साठ रुपये मिलते हैं। इतने में हम दोनों की कैसे गुज़र होगी भगवान जाने ! मकान का किराया ही तीस रुपये लगेगा। मैं कालेज जाने की सोच रही हूं—पर अब यह हो नहीं सकेगा। मुझे भी अब कहीं न कहीं कोई नौकरी खोजनी होगी।"

वासंती की यह बात सुनकर मेरे कलेजे का पानी हो गया। क्या मुझ-पर भी यही नौबत आएगी ! गंगाधरराव तो बी० ए० था। इसलिए उसे चट नौकरी मिल गई। मैं हूं सिर्फ मैट्रिक पास ! बम्बई में मैट्रिक को कौन पूछता है ? यदि मुझपर भी ऐसा ही मौका आ गया तो इस कल्पना से कि बंबई में मेरी गुज़र न होगी, मैंने देवी की ओर देखा।

उसने अन्दाज़ से मेरे मन की बात ताड़ ली। वह बोली, "तुम कोई चिन्ता मत करो। हम अब बम्बई में ही रहेंगे। मैंने सारा प्रबन्ध कर लिया है..."

"मतलब ?" मैंने अकड़कर कहा, "अपने चाचा से तुम जायदाद लेकर आओगी और मैं क्या उसपर जिऊँगा ?"

"ऐसा मैं कहां कहती हूं ?" देवी बोली, "तुम्हें भी कहीं न कहीं

नौकरी मिल जाएगी। मुझे भी मिल जाएगी। नहीं तो हम यहां एक प्रेस खोल देंगे। एक नया समाचारपत्र निकालेंगे। 'सच्चा हिन्दू' नहीं, समझे? नवमतवाद का प्रचार करने के लिए समाचारपत्र निकालेंगे अच्छा ज़ोरदार, और उसमें धारावाहिक रूप से 'कृष्णाजी बलवंत' का उपन्यास शुरू कर देंगे···"

"फिर तो अखबार की बिक्री बड़े धड़ल्ले से होगी इसमें कोई शक ही नहीं।" गंगाधरराव बोला।

देवी झट से उठी और बोली, "अब ये मज़ाक छोड़ो—मुझे जल्द जाना चाहिए। चाचाजी अगर मेरे पहले होटल में पहुंच गए होंगे तो फिज़ूल ही डांट-फटकार करेंगे।"

ठीक से विदा भी न ले, वह एकदम उठकर चल दी। मैं भी उन दोनों से विदा लेकर चल दिया। नीचे जाकर देखता हूं तो देवी टैक्सी में बैठकर चल दी थी। मेरा मन उसके साथ जाने को कर रहा था। पर मुझे लगा, उसने मुझे जान-बूझकर ही टाला होगा।

मेरा वह दिन बड़ी खुशी में गुज़रा।

आगे की परिस्थिति का विचार करते समय मेरे कलेजे में धड़कन हो रही थी। मैंने मन में निश्चय किया था कि काका से प्रार्थना करूंगा—उनके चरण पकड़ लूंगा—शेषगिरराव से प्रार्थना करूंगा। सारी लाज-लज्जा ताक पर रखकर स्पष्ट शब्दों में उनसे कहूंगा कि देवी से मेरा प्यार हो गया है, उसके बिना ज़िन्दा रहना मेरे लिए असम्भव है। इसके बाद भी यदि उन्होंने न माना तो गंगाधरराव और वासन्ती का मार्ग मैं भी अपनाऊंगा ऐसा भी मैंने पक्का निश्चय कर लिया था।

देवी ने कहा था—'यह प्रबन्ध मैंने कर लिया है।' इसका अर्थ क्या होगा यह मेरे ध्यान में न आया। क्या शेषगिरराव से वह अपनी जायदाद मांगेगी? या अदालत की सहायता से वह उस जायदाद पर अपना हक साबित करेगी? वैसे सीधी तरह से तो शेषगिरराव उसे एक नया पैसा भी नहीं देगा। शेषगिरराव को मैं खूब अच्छी तरह से जानता हूं। साहूकार के

नाते कितने ही गरीब परिवारों को उसने धूल में मिला दिया, इसे बेलगांव का बच्चा-बच्चा जानता है।

कुछ भी क्यों न हो, कष्ट सहने को देवी तैयार थी। मैं भी तैयार था। फिर हम लोगों को भय किस बात का ?

'क्या भाग्य का ?' मुझे हंसी आ गई। हम दोनों ने बैठकर भाग्य की व्याख्या एक बार की थी। जब देवी ने यह कहा था कि अगर हमारे भाग्य में भाग जाना ही लिखा होगा, तब यह बात मुझे जंची नहीं थी। पर वही बात अब जंचने लगी। भाग्य का आघात रामबाण होता है। जहां कह दिया कि यही हमारे भाग्य में है तो शत-प्रतिशत सफलता रखी है !

मशीन का हिस्सा सुधरवाकर भेज दिया था। अब उस छापेखाने में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं रह गई थी। परन्तु जो ढोंग किया था उसे पूरी तरह निभाना ज़रूरी था।

हम सभी ढोंगी हैं ! काका अपनी तरह से ढोंग कर रहे थे। शेषगिर-राव अपनी तरह से ढोंग कर रहे थे। परन्तु दोनों इज़्ज़तदार थे इसलिए उन्हें खुल्लमखुल्ला ढोंगी कहने की किसीको हिम्मत नहीं थी। काका मुझे पाल रहे थे—सिर्फ भोजन और कपड़ा देकर मुझसे मनमाना काम ले रहे थे। यदि वे अपनी जायदाद का प्रबन्ध देखने के लिए अलग से कोई मैनेजर रखते, तो उसे उन्हें अच्छी-खासी तनख्वाह देनी पड़ती। ऊपर से वसूली करते समय बहुत-सा पैसा वह हड़प भी कर जाता ! मैं उनका यह सब काम बिलकुल मुफ्त में, ईमानदारी से, कर रहा था। इसके बावजूद यह आभासित कर कि वे मुझपर बड़े उपकार कर रहे हैं, काका मुझे खूब धोखा दे रहे थे।

शेषगिरराव का भी यही चल रहा था। जायदाद देवी के पिता की थी। पर शेषगिरराव ने उसे अपने नाम पर कर ली थी। ऊपर से सबसे खुल्लमखुल्ला यह कहते फिरते थे कि देवी अनाथ लड़की है और उसे वे संभाल रहे हैं।

लोग क्या इतने मूर्ख हैं ! क्या उन्हें मालूम नहीं था कि जायदाद

दरअसल किसकी है !

देवी ने अपने हक को पहचाना। उसने भी पहले ढोंग किया। उसके भाग्य से उसे एक सज्जन डाक्टर मिल गया। वह उसे हर तरह से सहायता देने को तैयार हो गया। देवी ने बीमारी का ढोंग किया। उसे मालूम था कि बेलगांव का कोई भी डाक्टर उसकी मदद न करता। इसलिए उसने ऐसा खेल रचा कि उसका इलाज बम्बई में ही हो।

बम्बई के जिस सज्जन डाक्टर ने देवी को मदद करने का आश्वासन दिया था वह कोई मामूली व्यक्ति नहीं था। स्त्रियों के अधिकार के लिए वह विधानसभा में झगड़ रहा था। इसलिए ऐसे संकट में फंसी हुई अनाथ लड़की की सहायता करना उसने अपना कर्तव्य समझा। क्या हमें यह नहीं कहना चाहिए कि यह सब उसके भाग्य से ही हुआ ?

दूसरे दिन ऐसा ही एक मौका निकालकर देवी मुझसे आकर मिली। कितनी ही देर तक हम बातें करते बैठे थे। उन बातों में कोई अर्थ नहीं था। वह दो पागलों की बातें थीं। दूसरा कोई उन बातों को समझ न पाता। वह क्या बोल रही थी यह मैं समझ रहा था, और मैं जो बोल रहा था उसे वह समझ रही थी। इसीमें हम दोनों को बड़ा मज़ा आ रहा था।

वे पागलों की बातें क्षण-भर के लिए बन्द कर सत्य-सृष्टि में आने के लिए मैंने कहा, "देवी, अकल्पित रीति से यह सुख का दिन मुझे दीख पड़ा। पर अब आगे क्या होगा ?"

देवी बोली, "उसकी तुम कोई चिन्ता मत करो। यह नाटक मैंने आरम्भ किया है और इसपर अन्तिम यवनिका मैं ही डालूंगी।"

देवी पर मेरा विश्वास था। बिलकुल पुराणपंथी दिखनेवाली यह इत्ती-सी लड़की इतना उथल-पुथल मचा देगी, ऐसा इससे पहले कोई मुझसे कहता तो वह मुझे सम्भव ही न लगता। परन्तु स्त्रियां साहसी होती हैं, ऐसा किसीने कहा है, वह मुझे आज पूरी तरह जच गया।

स्त्रियां साहसी होती हैं !

और पुरुष ?

२२

मैं बेलगांव आया तो बिलकुल मस्त होकर। दुनिया मुझे तिनके की तरह तुच्छ लगती थी।

काका ने जब पूछा तो मैंने कहा, "इस अखबार को अब बंद कर देना चाहिए। मुझे नहीं लगता कि वह अब अधिक चलेगा। दूसरी बात यह है कि मशीन के हिस्से यदि इस तरह बार-बार टूटते रहे तो हर बार उन्हें लेकर बंबई कौन जाएगा? हमारे शहर में कोई मैकेनिक भी तो नहीं, जो यह काम कर सके। इसके सिवा अखबार की खपत भी दिन-प्रतिदिन घटती ही जा रही है। मेरा खयाल है कि कुछ दिनों बाद वह इतनी कम हो जाएगी कि छपाई का खर्च भी उसकी बिक्री से न निकलेगा। ऐसी स्थिति में हम इसे कब तक चला सकेंगे; और हमें उसे चलाने की ज़रूरत ही क्या?"

"तो फिर बंद कर दो उसे!" काका चिढ़कर बोले, "मुझे कहां है इतनी आग कि अखबार चले! तुम सबने मिलकर मुझसे अखबार निकलवाया, मुझपर सख्ती की। इसलिए मैंने अपनी गांठ से पैसे खर्च किए, एक प्रेस खरीद दिया। अब तुम उसे चला भी नहीं सकते…" एकदम क्रोध से उबलकर वे चिल्लाए, "शर्म नहीं आती यह कहने में कि अखबार नहीं चलता! आज महाराष्ट्र के ऐसे कई अखबार हैं जो पचास-साठ वर्षों से बराबर चल रहे हैं, और तुम हो जो एक अखबार को एक साल भी नहीं चला सकते! क्या करोगे तुम आगे? क्या सिर्फ बैठे रहोगे? क्या तुम यह सोच रहे हो कि मेरी मृत्यु के बाद मेरी यह सारी जायदाद तुम्हारे गले में जाएगी? जानते हो, यह मेरी पुश्तैनी जायदाद नहीं। यह सब मेरी अपनी कमाई है और इसका इंतज़ाम करना मेरी इच्छा पर निर्भर है। मैं चाहे जिस चेरीटेबल इन्स्टीट्यूशन को दे डालूंगा इसे…हो किस ध्यान में तुम?"

मन में आया था कि एक करारा मुंहतोड़ जवाब दे दूं, पर मैं चुप ही रहा।

उस सप्ताह का अंक जैसे-तैसे निकला। पर अब पत्र-संपादन में मेरा

मन नहीं लग रहा था।

दो-तीन दिन के बाद शेषगिरराव भी बंबई से बेलगांव आ गए थे। देवी भी उनके साथ आई थी। शेषगिरराव की दृष्टि से उसका स्वास्थ्य अब पूरी तरह से अच्छा हो गया था।

उसके विवाह की बातें फिर शुरू हुईं। सब कुछ पक्का हो गया। अब सिर्फ मुहूर्त निश्चित होना ही बचा था। त्रावणकोर से पत्रों का तांता लगा था। वर को वधू बहुत ही पसन्द आई थी और वे विवाह की जल्दी कर रहे थे। आगे क्या-क्या प्रबन्ध किया जाए, इसपर विचार करने के लिए शेषगिरराव काका के पास आए थे।

उनकी बातें हो रही थीं कि इसी समय देवी भी वहां आ पहुंची।

देवी को देखते ही वे दोनों आश्चर्यचकित हो गए। जिस साज-सज्जा में वह बंबई के प्रकाशक से मिला करती थी, उसी साज-सज्जा में, उसी पोशाक में, वह बूट खटखटाती हुई सीधी भीतर आई और शान से एक कोच पर बैठ गई।

काका और शेषगिरराव सिर्फ मुंह फाड़कर उसकी ओर देख रहे थे। मैं गालों में हंस रहा था।

आश्चर्य के पहले धक्के का असर कुछ कम हो जाने पर काका बोले, "देवी, तुम ही हो क्या यह ?" प्रौढ़ता के पूर्ण ज्ञान से देवी बोली, "मुझमें यह फर्क हुआ देख आपको अचंभा होता होगा। पर आपसे मैं स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहती हूं कि मैं वासंती जैसी कमजोर नहीं। आज तक आप लोगों के कहने के अनुसार हर काम करके ढोंगी जीवन जी रही थी मैं। पर ऐसे जीवन से अब मैं बिलकुल ऊब उठी हूं। पुराणपंथियों के अध्वर्यु के नाते आप बड़ी शान बघारते हैं। परन्तु आपकी चादर के तले छिपे पापों को देखकर, मुझ जैसी अल्प वय की लड़की के मन में आपके प्रति आदर-भाव किस तरह रह सकता है ? आप लोगों ने ऐसे कौन-से काम किए हैं, जिनको देखकर हमारे हृदय में आपके प्रति आदर जागे ?…"

शेषगिरराव को अभी तक वाचा नहीं फूट रही थी। काका का पित्त

भड़क उठा था। उनके नेत्र क्रोध से लाल हो गए थे। मुझे लगा, वे उठकर कड़ाक से देवी के मुंह पर कहीं एक करारा चांटा तो नहीं जड़ देंगे। उनका हाथ कांप रहा था। कड़कड़ानेवाली आवाज़ में वे देवी पर चिल्लाकर बोले, "शर्म नहीं आती तुझे, ऐ बेवकूफ छोकरी! जिसने तुझे छोटे से बड़ा किया, जिसने तेरे लिए आज तक अपार कष्ट सहे, जिसने तुझे सुख और संतोष में रखने के लिए कुछ भी न उठा रखा, ऐसे अपने इस चाचा की तू इस तरह बेइज़्ज़ती कर रही है?"

"उन्होंने काहे के कष्ट उठाए हैं?" देवी ख्याऊं करके काका पर टूटती हुई बोली, "मुझे अपने पिता के वसीयतनामे की नकल मिल गई है। इस परिवार की सारी जायदाद मेरे पिता की है। मैं अनाथ नहीं हूं। आप सब लोगों को यही लगता था कि मैं अनाथ हूं और ये मेरे चाचा मुझपर बड़े उपकार कर रहे हैं। पर अब मैं सब समझ गई हूं, बल्कि बहुत पहले से ही मुझे इसका ज्ञान था। पर मैं चुप थी। मौका देख रही थी। खैर, पर इस समय मैं अपनी जायदाद मांगने नहीं आई हूं, पर यह कहने आई हूं कि मेरी सारी जायदाद गैरकानूनी तरीके से हड़प लेने के बाद भी आप जो यह कह रहे हैं कि आप मुझपर बड़े उपकार कर रहे हैं यह बेशक अब मैं बरदाश्त नहीं करूंगी। आपको यह झूठा अभिमान छोड़ देना चाहिए। शर्म आपको ही अपनी इस हरकत की आनी चाहिए, मुझे नहीं। आप लोग पुराण-पंथीपन की बड़ी महिमा गाते थे। आर्य-संस्कृति का बड़ा घमंड रखते थे। परन्तु आपका आचरण मुझे साफ दिख रहा था। सिर्फ आपको अंधकार में रखने के लिए ही मैं भी पुराणपंथी वृत्ति धारण किए हुए थी। बर्ताव भी उसी तरह कर रही थी। पुराणपंथियों के कुकर्मों का परदा फाश करने की गरज से मैं भी पुराणपंथी बनी थी। मन में कह रही थी—'लड़की, तू भी अपने घर की रीति का पालन कर, घर की तरह बन।' परन्तु पुराणपंथी लोगों का चालचलन जैसे-जैसे मेरी नज़रों में आ रहा था वैसे-वैसे मुझे आपकी आर्य-संस्कृति से नफरत होने लगी थी। उसको पड़तालने का मैंने निश्चय किया।" एक क्षण के लिए रुककर वह बोली, "पुराणपंथियों के

कुकृत्यों को चौराहे पर लाने के लिए हरेश्वरराव के जीवन का आधार लेकर मैंने वह उपन्यास लिखा…"

"खिलती कली! वह उपन्यास तूने लिखा?" काका क्रोध से उबलकर बोले, "तूने लिखा था वह उपन्यास और उसपर 'सच्चा हिन्दू' में समीक्षा भी तूने ही लिखी थी?"

"हां, मैंने ही वह उपन्यास लिखा और वह समीक्षा भी मैंने ही लिखी।" देवी बोली।

मेरी आंखों में स्वच्छ प्रकाश पड़ा। देवी की असाधारण लेखन-कुशलता की मन ही मन मैंने सराहना की।

देवी आगे बोली, "और दूसरा उपन्यास भी मैंने ही लिखा है। उसमें प्रत्यक्ष आपका, समझे चाचाजी, प्रत्यक्ष आपका जीवन-चरित्र मैंने लिखा है। इतने से ही आपकी आंखें खट से खुल जानी चाहिए थीं। जो बातें सिर्फ हम घरवालों को ही मालूम थीं, उन्हें ही मैंने बिलकुल ब्योरेवार और विस्तार से लिखा है। इतने से ही आपको जान लेना चाहिए था कि उस उपन्यास का लेखक कोई आपके ही घर का व्यक्ति है। पर आप आर्य-संस्कृति का परदा ओढ़कर अंधेरे में घूम रहे थे। मेरी बला टाल देने के लिए आपने त्रावणकोर के दीवान को खोज निकाला। सामने के पुरुष आपकी आंखों को दिख ही नहीं रहे थे।"

इतनी देर तक चुप बैठे हुए शेषगिरराव अटकते-अटकते बोले, "सामने के पुरुष? सामने कौन पुरुष थे?"

"अभी तक आपकी समझ में नहीं आ रहा है?" देवी बोली, "अगर नहीं समझ पाए हैं तो कुछ ही दिनों में आपको आप ही आप पता चल जाएगा। आपका और मेरा संबंध आज से समाप्त हो गया। बताइए, सीधी तरह से मेरी सारी जायदाद मेरे हवाले करेंगे, या कि मैं कानून की शरण लूं?"

शेषगिरराव काका की ओर देखने लगे। काका शेषगिरराव की ओर देखने लगे। दोनों के ही मुंह से कोई उत्तर नहीं निकल रहा था।

"अभी इसका जवाब न दे सकते हों तो न दीजिए। जिस समय जवाब देने के लायक आपकी परिस्थिति होगी उस समय दीजिए। आज से हम दोनों का ही आपसे सम्बन्ध समाप्त हो गया···" देवी बोली।

"दोनों का ही ? क्या मतलब ?" दोनों ही एकसाथ बोल उठे।

"हां।" मैंने कहा, "मेरा भी आपसे सम्बन्ध समाप्त हो गया, काका। देवी की तरह मेरी आपसे कोई शिकायत नहीं। आपकी जायदाद मेरे पिता की जायदाद नहीं। मेरे पिता ने मेरे लिए कोई जायदाद नहीं रखी और न मेरे पिता की ऐसी कोई जायदाद आपने हड़प ही की है। आपने मुझपर अनन्त उपकार ही किए हैं। मैं कभी भी कृतघ्न नहीं होऊंगा। आपने मुझसे अपना काम कराया है, पर बदले में मुझे खाना, कपड़ा और शिक्षा भी दी है। आपके इन उपकारों को मैं कभी नहीं भूलूंगा। पर आपके हृदय में यदि कुछ दया हो, मेरे प्रति कुछ पुत्र-वात्सल्य का भाव हो, तो मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि आप हम दोनों को आशीर्वाद दीजिए।"

"दोनों को ?" काका बोले और देवी की ओर देखने लगे।

"हां, हम दोनों को !" देवी बोली। शेषगिरराव कुछ न बोल उठकर अपने घर चल दिए। तब काका ने देवी को अपने नज़दीक बुलाया।

वे बोले, "देवी, यह हाल मैं नहीं जानता था और न तुमने ही इस विषय में मुझसे कभी कुछ कहा।"

"मैं कैसे कहती ?" देवी बोली, "क्या आपसे एकान्त में बातें करना मेरे लिए संभव भी था ? हम पुराणपंथी परिवार की बेटियां जो ठहरीं !"

काका की आंखें एकदम छलछला उठीं। "सच है, सच है !" वे बोले, "ज़माना बदल गया है इसका मुझे अभी तक पता नहीं था। तुम तरुण लोग जब हमारी आंखों में ऐसा चरपरा अंजन लगाओगे तभी हमारी आंखें खुलेंगी। तुम्हारे पास तुम्हारे पिताजी के वसीयतनामे की जो नकल है वह मुझे दे देना। मैं उस हरामज़ादे से तुम्हारी सारी जायदाद उगलवाकर ही रहूंगा।"

ऐनक उतारकर अपनी आंखें पोंछते हुए काका बोले, "कितना गधा

हूं मैं ? कैसे यह मेरे ध्यान में नहीं आया ? तुम दोनों जब यहां दफ्तर में बैठते थे, उस समय तो कम से कम मुझे यह ध्यान में आ जाना चाहिए था की तुम्हारी जोड़ी बड़ी सुन्दर दिखती है। बुढ़ापे में शार्ट साइट गायब हो जाती है, ऐसा कहते हैं; पर यह उलटा ही हुआ। कुछ भी दिखा नहीं मुझे। इधर आओ देवी। और श्रीनिवास, तू भी आ रे इधर। दोनों मेरे चरण छुओ।"

हम दोनों ने काका के चरण छुए। उन्होंने दोनों की ही पीठ पर वात्सल्य से हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया—'चिर जीवहु जोरी जुरै।'

फुरसत के वक्त जिस समय मैंने अपना यह सारा हाल लिख डाला उस समय देवी बोली कि इसका क्या नाम दिया जाए यह मैंने पहले ही तय कर लिया है। हम इसे प्रकाशित करेंगे। किसीको यह पसंद आए चाहे न आए। मराठी पाठकों को यह अनुभव हो जाना चाहिए कि दुनिया में जो इतिहास बन रहे हैं वे काल्पनिक कथाओं की अपेक्षा अधिक परिणामकारी होते हैं। इसका कन्नड़ अनुवाद भी हम छापेंगे।"

"पर इस उपन्यास का नाम क्या दोगी ?" मैंने पूछा।

सामने का कागज़ उठाकर देवी ने उसपर लिखा—'खिलती कली'

○ ○ ○

आशा है, यह उपन्यास आपको रुचिकर लगा होगा। इसके बारे में हम आपके बहुमूल्य विचारों का स्वागत करेंगे। राजपाल एण्ड सन्ज़ का सदैव यह प्रयास रहा है कि उत्कृष्ट प्रकाशनों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया जाए; और यह सब आपके हार्दिक सहयोग पर ही निर्भर है। यदि आप कथा-साहित्य पढ़ने में रुचि रखते हैं तो हमारा उत्कृष्ट उपन्यास-साहित्य मंगवाकर पढ़िए अथवा पुस्तकों का चुनाव करते समय हमें लिखिए। हम आपकी हर संभव सहायता करने का प्रयास करेंगे।